दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (गुजरात) का मुखपत्र

धम्म सउच्च बंभवय धारणु ।
धम्म सउच्च मयट्ठ णिवारणु ॥
धम्म सउच्च जिणायमभणणे ।
धम्म सउच्च सुगुण अणु मणणे ॥

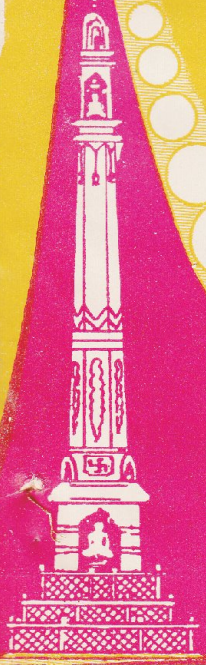

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

वर्ष ३२ : अंक १२ [३८४] जून, १९७७

आत्मधर्म [३८४]

[शाश्वत सुख का मार्गदर्शक आध्यात्मिक हिन्दी मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

क्या

१ हम लागे आतमराम सौं
२ स्वभाव की पहिचान
३ संपादकीय : उत्तम शौच
४ निश्चय श्रेतकेवली और व्यवहार श्रुतकेवली [समयसार प्रवचन]
५ मोक्ष और मोक्षमार्ग [नियमसार प्रवचन]
६ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
७ मोह की महिमा
८ ज्ञान-गोष्ठी
९ समाचार दर्शन
१० पाठकों के पत्र
११ प्रबंध संपादक की कलम से

ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले के शौचधर्म होता है। यह शौचधर्म आठ मदों का निवारण करनेवाला है। यह जिनागम के अध्ययन तथा सुगुणों के चिंतन से प्रकट होता है। **- महाकवि रइधू**

(मूल छंद मुखपृष्ठ पर दिया गया है)

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३२ [३८४] अंक : १२

हम लागे आतमराम सों॥टेक॥

विनाशीक पुद्गल की छाया,
कौन रमे धन-धान सों॥ हम लागे०॥

समता सुख घट में परकास्यो,
कौन काज है काम सों।

दुविधा भाव जलांजुलि दीनों,
मेल भयौ निज-स्वामि सों॥ हम लागे०॥

भेदज्ञान करि निज-पर देख्यो,
कौन विलोके चाम सों।

उरे-परे की बात न भावे,
लौ लाई गुण-ग्राम सों॥ हम लागे०॥

विकलप भाव रंक सब भाजे,
झरि चेतन अभिराम सों।

'द्यानत' आतम अनुभव करके,
छूटे भव दुःख-धाम सों॥ हम लागे०॥

स्वभाव की पहिचान

श्रद्धा के एकरूप विषय में संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष – किसी भी भेद का स्वीकार नहीं। निरपेक्ष अखंड पूर्णस्वभाव ही श्रद्धा का विषय है। प्रमाणज्ञान त्रिकालस्वभाव, वर्तमान अवस्था और निमित्त को जानता है; परंतु श्रद्धा में किसी प्रकार का भेद नहीं। परिपूर्ण एकरूप ध्रुवस्वभाव की महिमा करके स्वरूप में एकाग्र होने से अपूर्व शांति का अनुभव होता है। उस समय प्रमाण-नय इत्यादि किसी प्रकार के विचार नहीं होते, और 'मैं शांति अनुभव करता हूँ' ऐसा पर्याय पर लक्ष्य भी नहीं होता।

मात्र यह सुनकर कोई ध्यान करना चाहे तो संभव नहीं है, क्योंकि हठ से ध्यान नहीं होता। उसप्रकार की पात्रता होनी चाहिये और सत्समागम से उसका प्रयत्न भी करना चाहिये।

राग-द्वेष तो पाप हैं ही, परंतु तत्त्वार्थ के बारे में मिथ्या अभिप्राय महान पाप है। वह पाप सर्वज्ञकथित तत्त्वार्थों की विपरीत अभिप्रायरहित श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से दूर नहीं होता।

हेय-उपादेयरूप भावों की पहिचान करके उपादेय का ग्रहण करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। 'परपदार्थ से भला-बुरा होता है, मैं शरीरादि का कर्त्ता हूँ, पराश्रय से लाभ और शुभराग से धर्म होता है'; ये सब अनादि की मिथ्या मान्यताएँ हैं, जिन्हें दूर करने के लिये स्वभाव की पहिचान करना चाहिये।

— पूज्य स्वामीजी

सम्पादकीय

उत्तम शौच | एक विश्लेषण

[गतांक से आगे]

धर्म और धर्मात्माओं के प्रति उत्पन्न हुए राग को तो धर्म तक कह दिया जाता है, वह भी जिनवाणी में भी; पर वह सब व्यवहार का कथन होता है। उसमें ध्यान रखने की बात यह है कि राग लोभांत-कषायों का ही भेद है, वह अकषायरूप नहीं हो सकता। जब अकषायभाव-वीतरागभाव का नाम धर्म है, तो रागभाव-कषायभाव धर्म कैसे हो सकता है? अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि लोभादिकषायरूपात्मक है स्वरूप जिसका, ऐसा राग चाहे वह मंद हो चाहे तीव्र, चाहे शुभ हो चाहे अशुभ, चाहे अशुभ के प्रति हो चाहे शुभ के प्रति; वह धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि है तो आखिर वह राग (लोभ) रूप ही।

यह बात सुनकर चौकिये नहीं, जरा गंभीरता से विचार कीजिये। शास्त्रों में लोभ की सत्ता दसवें गुणस्थान तक कही है। तो क्या छठवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक विचरण करनेवाले परमपूज्य भावलिंगी मुनिराजों को विषयों के प्रति लोभ होता होगा? नहीं, कदापि नहीं। उनके लोभ का आलंबन धर्म और धर्मात्मा ही हो सकते हैं।

आप कह सकते हैं कि जिनके तन पर धागा भी नहीं, जो सर्वपरिग्रह के त्यागी हैं - ऐसे कुन्दकुन्द आदि मुनिराजों के भी लोभ? कैसी बातें करते हो? पर भाई! ये बातें मैं नहीं कर रहा, शास्त्रों में हैं, और सभी शास्त्राभ्यासी इन बातों को अच्छी तरह जानते हैं।

अतः जब लोभ का वास्तविक अर्थ समझना है तो उसे व्यापक अर्थ में ही समझना होगा। उसे मात्र रुपये-पैसे तक सीमित करने से काम नहीं चलेगा।

आप यह भी कह सकते हैं कि अपनी बात तो करते नहीं, मुनिराजों की बात करने लगे। पर भाई! यह क्यों भूल जाते हो कि यह शौचधर्म के प्रसंग में बात चल रही है। और

शौचधर्म का वर्णन शास्त्रों में मुनियों की अपेक्षा ही आया है। उत्तमक्षमादि दशधर्म तत्त्वार्थसूत्र में गुप्ति-समितिरूप मुनिधर्म के साथ ही वर्णित हैं।

बहुत-सा लोभ जिसे आचार्यों ने पाप का बाप कहा है, आज धर्म बन के बैठा है। धर्म के ठेकेदार उसे धर्म सिद्ध करने पर उतारू हैं। उसे मोक्ष तक का कारण मान रहे हैं और नहीं माननेवालों को कोस रहे हैं।

पच्चीस कषायें राग-द्वेष में गर्भित हैं। उनमें चार प्रकार का क्रोध, चार प्रकार का मान, अरति, शोक, भय एवं जुगुप्सा, ये बारह कषायें – द्वेष हैं; और चार प्रकार की माया, चार प्रकार का लोभ, तीन प्रकार के वेद, रति एवं हस्य ये तेरह कषायें – राग हैं।

इसप्रकार जब चारों प्रकार का लोभ राग में गर्भित हैं, तब राग को धर्म माननेवालों को सोचना चाहिये कि वे लोभ को धर्म मान रहे हैं। लोभ तो पाप ही नहीं, पाप का बाप है।

राग चाहे मंद हो, चाहे तीव्र; चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ; वह होगा तो राग ही। और जब वह राग है तो वह या तो माया होगा या लोभ या वेद या रति या हास्य। इनके अतिरिक्त तो राग का और कोई प्रकार है ही नहीं शास्त्रों में, हो तो बतायें ? ये तेरह कषायें ही राग है। अतः राग को धर्म मानने का अर्थ है कषाय को धर्म मानना, जबकि धर्म तो अकषायभाव का नाम है।

चारित्र ही साक्षात् धर्म है। और वह मोह तथा क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित अकषाय भावरूप आत्मपरिणाम ही है। दशधर्म भी चारित्र के ही रूप हैं। अतः वे भी अकषायरूप ही हैं।

शौचधर्म उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव से भी बड़ा धर्म है; क्योंकि शौचधर्म की विरोधी लोभ कषाय का अंत क्रोध, मान, माया आदि समस्त कषायों के अंत में होता है। अतः जिसका लोभ पूर्णतः समाप्त हो गया, उसके क्रोधादि समस्त कषायें निश्चित रूप से समाप्त हो गयी। पच्चीसों कषायों में सबसे अंत तक रहनेवाली लोभ कषाय ही है। क्रोधादि पूरे चले जायें, तब भी लोभ रह सकता है, पर लोभ के पूर्णतः चले जाने पर क्रोधादि की उपस्थिति संभव नहीं है।

यही कारण है कि सबसे खतरनाक कषाय लोभ है और सबसे बड़ा धर्म शौच है। कहा भी है :- 'शौच सदा निरदोष, धर्म बड़ो संसार में।'

उक्त कथन से एक बात यह भी प्रतिफलित होती है कि शौचधर्म मात्र लोभ कषाय के

अभाव का ही नाम नहीं, वरन् लोभान्त-कषायों के अभाव का नाम है। क्योंकि यदि पवित्रता का नाम ही शौचधर्म है तो क्या सिर्फ लोभकषाय ही आत्मा को अपवित्र करती है, अन्य कषायें नहीं ? यदि हाँ, तो फिर समस्त कषायों के अभाव का नाम ही शौचधर्म होना चाहिये।

यदि आप कहें कि क्रोध का अभाव तो क्षमा है, मान का अभाव मार्दव है और माया का अभाव आर्जव है। अब लोभ ही बचा, अतः उसका अभाव शौच हो गया। तब मैं कहूँगा कि क्या क्रोध, मान, माया और लोभ ही कषायें हैं; हास्य, रति, अरति कषायें नहीं; भय, जुगुप्सा और शोक कषायें नहीं; स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कषायें नहीं ? - ये भी तो कषायें हैं। क्या ये आत्मा को अपवित्र नहीं करतीं ?

यदि करती हैं तो फिर पच्चीसों कषायों के अभाव को शौचधर्म कहा जाना चाहिये, न कि मात्र लोभ के अभाव को।

अब आप कह सकते हैं कि भाई! हमने थोड़े ही कहा है - शास्त्रों में लिखा है, आचार्यों ने कहा है। पर भाई साहब! यही तो मैं कहता हूँ कि शास्त्रों में लोभ के अभाव को शौच कहा है और लोभ के पूर्णतः अभाव होने के पहिले सभी कषायों का अभाव हो जाता है, अतः स्वतः ही सिद्ध हो गया कि सभी प्रकार के कषाय भावों से आत्मा अपवित्र होता है और सभी कषायों के अभाव होने पर शौचधर्म प्रकट होता है।

लोभांत माने लोभ है, अंत में जिनके ऐसी सभी कषायें। चूंकि लोभ पच्चीसों कषायों के अंत में समाप्त होता है, अतः लोभांत में पच्चीसों कषायें आ जाती हैं।

यह पूर्ण शौचधर्म की बात है। अंशरूप में जितना-जितना लोभांत-कषायों का अभाव होगा, उतना-उतना शौचधर्म प्रकट होता जावेगा।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब क्रोधादि सभी कषायें आत्मा को अपवित्र करती हैं तो क्रोध के जाने पर भी आत्मा में कुछ न कुछ पवित्रता प्रकट होगी ही, अतः क्रोध के अभाव को या मान के अभाव को शौचधर्म क्यों नहीं कहा; लोभ के अभाव को ही क्यों कहा ?

इसका भी कारण है और वह यह कि क्रोध के पूर्णतः चले जाने पर भी आत्मा में पूर्ण पवित्रता प्रकट नहीं होती, क्योंकि लोभ तब भी रह सकता है। पर लोभ के पूर्णतः चले जाने पर

कोई भी कषाय नहीं रहती है। अत: पूर्ण पवित्रता को लक्ष्य में रखकर ही लोभ के अभाव को शौचधर्म कहा है। अंशरूप से जितना कषायभाव कम होता है, उतनी शुचिता आत्मा में प्रकट होती ही है।

लोभ कषाय सबसे मजबूत कषाय है। यही कारण है कि वह सबसे अंत तक रहती है। जब इसका भी अभाव हो जाता है, तब शौचधर्म प्रकट होता है, अत: वह महान धर्म है।

इस महान शौचधर्म को लोगों ने नहाने-धोने तक सीमित कर दिया है। नहाना-धोना बुरा है - यह मैं नहीं कहता; पर उसमें वास्तविक शुचिता नहीं, उससे शौचधर्म नहीं होता। शौचधर्म का जैसा प्रकर्ष अस्नानव्रती मुनिराजों के होता है, वैसा दिन में तीन-तीन बार नहानेवाले गृहस्थों के नहीं। पूजनकार ने कहा भी है :-

प्राणी सदा शुचि शीलजपतप, ज्ञान ध्यान प्रभावतें।
नित गंगजमुन समुद्र नहाये, अशुचि दोष सुभावतें॥
ऊपर अमल मर भर्‌यो भीतर, कौन विधि घट शुचि कहै।
बहु देह मैली सुगुन थैली, शौच गुन साधू लहै॥

स्वभाव से तो आत्मा परम पवित्र है ही; पर्याय में जो मोह-राग-द्वेष की अपवित्रता है, वह नहाने-धोने से जानेवाली नहीं। वह आत्मज्ञान, आत्मध्यान, शील-संयम, जप-तप के प्रभाव से ही जायेगी। देह तो हाड़-मांस से बनी होने से स्वभावत: ही अशुचि है। यह गंगा-जमुना में मल-मलकर नहाने से पवित्र होनेवाली नहीं है। यह देह तो उस घड़े के समान है जो ऊपर से निर्मल दिखायी देता है, पर जिसके भीतर मल भरा हो। ऐसे घड़े को कितना ही मल-मलकर शुद्ध करो, वह पवित्र होनेवाला नहीं। उसीप्रकार यह शरीर है। इसकी कितनी ही सफाई करो, जब यह मैल से ही बना है तो पवित्र कैसे हो सकता है ?

यद्यपि यह देह मैली है, तथापि इसमें अनंत गुणों का पिंड आत्मा विद्यमान है, अत: एक प्रकार से यह सुगुणों की थैली है। यही कारण है कि देह की सफाई पर ध्यान भी न देनेवाले मुनिराज आत्मगुणों का विकास करके शौचधर्म को प्रकट करते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि शौचधर्म आत्मा का धर्म है, शारीरिक अपवित्रता से उसको क्या लेना-देना ? फिर शरीर तो मैल का ही बना है। खून, माँस, हड्डी आदि के अतिरिक्त और

शरीर है ही क्या ? जब ये सभी पदार्थ अपवित्र हैं, तो फिर इन सबके समुदायरूप शरीर को पवित्र कैसे किया जा सकता है ? इसी बात को स्पष्ट करते हुए मैंने बहुत पहले लिखा था :-

यदि हड्डी अपवित्र है, तो वह तेरी नाँहि।
और खून भी अशुचि है, वह पुद्गल परछाँहि॥
तेरी शुचिता ज्ञान है, और अशुचिता राग।
राग-आग को त्याग कर, निज को निज में पाग॥

खून, माँस और हड्डी की अपवित्रता तो देह की बात है। आत्मा की अपवित्रता तो मोह-राग-द्वेष है तथा आत्मा की पवित्रता ज्ञानानंदस्वभाव एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। अत: आत्मा को अपवित्र करनेवाले मोह-राग-द्वेष को कम करने के लिये अपने को जानिये, अपने को पहिचानिये, और अपने में ही समा जाइये। 'निज में निज को पाग' का यही आशय है।

राग-द्वेष में पच्चीसों कषायें आ जाती हैं। इनमें लोभ कषाय राग में आती है, यह सब पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

जरा विचार तो करो! ये राग-द्वेष हड्डी, खून, माँस आदि से भी अधिक अपवित्र हैं। क्योंकि हड्डी-खून-माँस उपस्थित रहते हैं - फिर भी पूर्ण पवित्रता, केवलज्ञान और अनंत सुख प्रकट हो जाते हैं, आत्मा अमल हो जाता है; किंतु यदि रंचमात्र भी राग रहे, चाहे वह मंद से मंदतर एवं मंदतम ही क्यों न हो, कितना भी शुभ क्यों न हो, तो केवलज्ञान व अनंतसुख नहीं हो सकता। आत्मा पहिले वीतरागी होता है, फिर सर्वज्ञ। सर्वज्ञ होने के लिये वीतरागी होना जरूरी है; वीतदेह नहीं, वीतहड्डी नहीं, वीतखून भी नहीं। इससे सिद्ध है कि रागभाव हड्डी और खून से भी अधिक अपवित्र है। इस पर भी हम उसे धर्म माने बैठे हैं।

यह सुनकर लोक चौंक उठते हैं। कहने लगते हैं कि आप कैसी बातें करते हैं - तीर्थंकर भगवान की हड्डी वज्र (वज्रवृषभनाराच संहनन) की होती है, खून बिल्कुल सफेद दूध जैसा होता है, उन्हें आप अपवित्र कहते हैं ? पर भाईसाहब! आप यह क्यों भूल जाते हैं कि खून तो खून ही है, वह चाहे सफेद हो या लाल। इसी प्रकार हड्डी तो हड्डी ही है, वह चाहे कमजोर हो या मजबूत।

मूल बात यह है कि खून और हड्डी चाहे पवित्र हों या अपवित्र, उनका आत्मा की पवित्रता से कोई संबंध नहीं है। खून और हड्डियाँ एक-सी होने पर भी अव्रती-मिथ्यादृष्टि अपवित्र हैं और सम्यग्दृष्टि व्रती-महाव्रती पवित्र।

इससे यह सहज सिद्ध है कि आत्मा की पवित्रता वीतरागता में है और अपवित्रता मोह-राग-द्वेष में; खून-माँस-हड्डी का उससे कोई संबंध नहीं।

वादिराज मुनिराज के शरीर में कोढ़ हो गया था, फिर भी वे परम पवित्र थे, शौचधर्म के धनी थे। गृहस्थावस्था में सनतकुमार चक्रवर्ती की जब कंचन जैसी काया थी, जिनके सौन्दर्य की चर्चा इंद्रसभा में भी चलती थी, जिसे सुनकर देवगण उनके दर्शनार्थ आते थे; तब तो उनके उस स्तर का शौचधर्म नहीं था, जिस स्तर का मुनि अवस्था में था। जबकि मुनि अवस्था में उनके शरीर में कोढ़ हो गया था, जो सात सौ वर्ष तक रहा। उस कोढ़ी दशा में भी उनके तीन कषाय के अभावरूप शौचधर्म मौजूद था।

जरा विचार तो करो कि शौचधर्म क्या है ? इसे शरीर की शुद्धि तक सीमित करना तत्संबंधी अज्ञान ही है।

व्यवहार से उसे भी कहीं-कहीं शौचधर्म कह दिया जाता है, पर वस्तुतः लोभांत-कषायों का अभाव ही शौचधर्म है। दूसरे शब्दों में वीतरागता ही वास्तविक शौचधर्म है।

पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान प्रतिदिन नहानेवालों को नहीं, जीवन भर नहीं नहाने की प्रतिज्ञा करनेवालों को प्राप्त होते हैं।

लोग कहते हैं - हड्डी आदि अपवित्र पदार्थों के छू जाने पर तो नहाना ही पड़ता है ?....

हाँ! हाँ!! नहाना पड़ता है पर किसे ? हड्डियों को ही न ? आत्मा तो अस्पर्श-स्वभावी है, उसे तो पानी छू भी नहीं सकता है। हड्डियाँ ही नहाती हैं।

यदि ऐसी बात है तो फिर मुनिराज नहाने का त्याग क्यों करते हैं ?

मुनिराज नहाने का नहीं, नहाने के राग का त्याग करते हैं। और जब नहाने का राग ही उन्हें नहीं रहा, तो फिर नहाना कैसे हो सकता है ?

कैसी विचित्र बात है कि इस हड्डियों के शरीर को हड्डी छू जाने से नहाना पड़ता है।

हम सब मुँह से रोटी खाते हैं, दाँतों से उसे चबाते हैं। दाँत क्या हैं ? हड्डियाँ ही तो हैं। जब तक दाँत मुँह में हैं – छूत हैं; अपने स्थान से हटते ही अछूत हो जाते हैं। इस पर लोग कहते हैं – यह जीवित हड्डी और वह मरी हड्डी। उनकी दृष्टि में हड्डियाँ भी जीवित और मरी – दो प्रकार की होती हैं।

जो कुछ भी हो, ये सब बातें व्यवहार की हैं। संसार में व्यवहार चलता ही है। और जब तक हम संसार में हैं, तब तक हम सब व्यवहार निभाते ही हैं, निभाना भी चाहिये। पर मुक्तिमार्ग में उसका कोई स्थान नहीं है।

यही कारण है कि मुक्ति के पथिक मुनिराज इन व्यवहारों से अतीत होते हैं; वे व्यवहारातीत होते हैं।

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान इन तीन कषायों के अभावरूप वास्तविक शौचधर्म – निश्चयारूढ़–व्यवहारातीत मुनिराजों के ही होता है, क्योंकि उन्होंने परमपवित्र ज्ञानानंदस्वभावी निजात्मा का अति उग्र आश्रय लिया है। वे आत्मा में ही जम गये हैं, उसी में रम गये हैं।

अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यान इन दो कषायों के अभाव में एवं मात्र अनंतानुबंधी के अभाव में होनेवाला शौचधर्म क्रमशः देशव्रती व अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावकों के होता है। सम्यग्दृष्टि और देशव्रती श्रावकों के होनेवाला शौचधर्म यद्यपि वास्तविक ही है, तथापि उसमें वैसी निर्मलता नहीं हो पाती जैसी मुनिदशा में होती है। पूर्णतः शौचधर्म तो वीतरागी सर्वज्ञों के ही होता है।

स्वभाव से तो सभी आत्माएँ परमपवित्र ही हैं, विकृति मात्र पर्याय में है। पर जब पर्याय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेती है, तो वह भी पवित्र हो जाती है। पर्याय के पवित्र होने का एकमात्र उपाय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेना है। 'पर' के आश्रय से पर्याय में अपवित्रता और 'स्व' के आश्रय से पवित्रता प्रकट होती है।

समयसार गाथा ७२ की टीका में आचार्य अमृतचंद्र आत्मा को अत्यंत पवित्र एवं मोह–राग–द्वेषरूप आस्रव भावों को अपवित्र बताते हैं। उन्होंने आस्रवतत्त्व को अशुचि लिखा है, जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व को नहीं। आत्मा जीव है, शरीर अजीव है – दोनों ही अपवित्र नहीं; अपवित्र तो आस्रव है, जो लोभादि कषायोंरूप है।

स्वभाव की शुचिता में ऐसी सामर्थ्य है कि उस पर जो पर्याय झुके, उसको जो पर्याय छुए, वह उसे पवित्र बना देती है। पवित्र कहते ही उसे हैं, जिसको छूने से छूनेवाला पवित्र हो जाये। वह कैसा पवित्र, जो दूसरों के छूने से अपवित्र हो जाये? पारस तो उसे कहते हैं, जिसके छूने पर लोहा सोना हो जाये। जिसके छूने से सोना लोहा हो जावे, वह थोड़े ही पारस कहा जायेगा। इसीप्रकार जो अपवित्र पर्याय के छूने से अपवित्र हो जाये, वह स्वभाव कैसा? स्वभाव तो उसका नाम है, जिसके आश्रय से पर्याय भी पवित्र हो जावे।

पवित्र स्वभाव को छूकर जो पर्याय स्वयं पवित्र हो जाये, उस पर्याय का नाम ही शौचधर्म है।

आत्मस्वभाव के स्पर्श बिना अर्थात् आत्मा के अनुभव बिना शौचधर्म का आरंभ भी नहीं होता। शौचधर्म का ही क्या, सभी धर्मों का आरंभ आत्मानुभूति से ही होता है। आत्मानुभूति उत्तमक्षमादि सभी धर्मों की जननी है।

अतः जिन्हें पर्याय में पवित्रता प्रकट करनी हो अर्थात् जिन्हें शौचधर्म प्राप्त करना हो, वे आत्मानुभूति प्राप्त करने का यत्न करें, आत्मोन्मुख हों।

सभी आत्माएँ आत्मोन्मुख होकर अपनी पर्याय में परमपवित्र शौचधर्म को प्राप्त करें, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

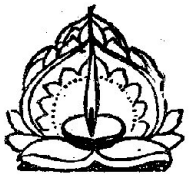

निश्चय श्रुतकेवली और व्यवहार श्रुतकेवली

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथराज समयसार की नवमीं एवं दशमीं गाथा पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथाएँ इसप्रकार हैं :-

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा॥९॥

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा॥१०॥ जुम्मं॥

जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सम्मुख होकर जानता है, उसे इस लोक को प्रकट करनेवाले ऋषिश्वर श्रुतकेवली कहते हैं।

जो जीव सर्वश्रुतज्ञान को जानता है, उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि सब ज्ञान आत्मा ही है, इसलिये (वह जीव) श्रुतकेवली है।

शिष्य प्रश्न करता है कि गुणों के भेद करके बतानेवाला व्यवहार, परमार्थस्वरूप अखंडवस्तु को किसप्रकार कहते हैं ? इसका उत्तर देते हुए ९वीं गाथा में परमार्थ बताया है और १०वीं गाथा में व्यवहार द्वारा परमार्थ का प्रतिपादन किसप्रकार होता है, यह समझाया है।

यह विषय ध्यान से समझने योग्य है। कुछ लोग तत्त्व की बात सुनते हैं, परंतु बराबर मनन न करने से बाहर जाकर भूल जाते हैं। कोई पूछे कि क्या सुना, तो कहते हैं कि बहुत अच्छी बात थी, आत्मा की बात थी, परंतु याद नहीं है; बहुत सूक्ष्म बात थी। सूक्ष्म है, अतः समझ में नहीं आयेगा, यह मान्यता छोड़ देना। समझना तो अपने पुरुषार्थ की बात है। आठ वर्ष की उम्र में भी समझ सकते हैं।

जिसने निश्चय से श्रुतज्ञान द्वारा अंतरएकाग्रता से अखंड एकरूप ध्रुव ज्ञायक आत्मा को जान लिया, वह परमार्थ से श्रुतकेवली हैं। जो गुण-गुणी के भेद से परमार्थ में जाने का विचार करते हैं अर्थात् ज्ञानी को आत्मज्ञान द्वारा अखंड को लक्ष्य में लेकर पूर्ण तक पहुँचने के विकल्प उठते हैं तथा जो निश्चय से ठहरने के लिये स्वरूपसन्मुख विचार प्रवाहित करते हैं; उन्हें जिनदेव व्यवहार श्रुतकेवली कहते हैं।

निश्चय भावश्रुत होकर स्थिर नहीं हुआ; परंतु स्थिर होने के लिये 'ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ', ऐसे अखंड आत्मा संबंधी विकल्प करता है, वे अल्प श्रुतज्ञान के विकल्प सर्व श्रुतज्ञानरूप अखंड आत्मवस्तु को ख्याल में लेकर उसमें ठहरना चाहते हैं। अत: वह व्यवहार श्रुतकेवली है। अखंड के लक्ष्यपूर्वक भेद-विचार में रहना व्यवहार है। पर की भक्ति, परावलंबी विचार को यहाँ व्यवहार नहीं कहा।

'आत्मा अखंड निर्मल है' इसप्रकार संपूर्ण आत्मा का लक्ष्य करने का विचार जिस ज्ञानी को होता है, वह भी व्यवहार श्रुतज्ञानी है। आचार्यदेव कहते हैं कि अखंड ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा को सर्वज्ञ के न्याय से बराबर जानकर, श्रुतज्ञान को अखंड में मिलाकर जो संपूर्ण आत्मा को पकड़ना चाहता है, उसे भले द्रव्यश्रुत का अल्पभान हो, तो भी पूर्ण स्वविषय को पकड़कर उसमें ही ठहरना चाहता है; अत: वह व्यवहार श्रुतकेवली है। और जो परमार्थ को जानकर अखंड में ठहरा, वह परमार्थ श्रुतकेवली है।

आत्मा को जानने का रागमिश्रित विचार जिसके ज्ञान में वर्तता है, वह भविष्य में निर्विकल्प होनेवाला है; अत: वर्तमान में द्रव्यनिक्षेप से श्रुतकेवली है। जिनने परमार्थ का आश्रय किया, उन सभी को परमार्थ प्रगट होता है। 'अखंड ज्ञायक निर्विकल्प हूँ, निर्मल हूँ', ऐसा विचार मन द्वारा वर्तता हुआ ज्ञान है तो भी वह ज्ञान अपना ही है, राग का नहीं, पर संबंधी रागरूप भी नहीं। वह ज्ञानमात्र आत्मा की ओर वर्तता है, अत: परमार्थ को बतानेवाला है। पूर्ण श्रुतकेवली को भी आत्मा को ही पकड़कर ठहरना है। उसीप्रकार अपूर्ण श्रुतज्ञान में अखंड आत्मा को ग्रहण करके ज्ञान में समा देने का विचार जिसे वर्तता है, ऐसे अल्पज्ञ को सर्वश्रुतज्ञान है; क्योंकि अल्प होते हुए भी वह संपूर्ण केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला है।

ज्ञान का अखंड आत्मा की तरफ ढलान होता है, अत: विचाररूप सर्वश्रुतज्ञान—सभी

ज्ञान आत्मा का ही है, अत: श्रुत में पूर्ण कह दिया है। अभेदरूप से स्थिर नहीं हुआ, अत: व्यवहार कहा है। नवमीं गाथा में निश्चय-परमार्थ कहा और दसवीं गाथा में व्यवहार कहा है। दोनों ही संधि करके आचार्यदेव ने अमृत बरसाया है।

अभेद, एक, शुद्ध, त्रिकाली ज्ञायक निज आत्मा को भावश्रुतकेवली कहना परमार्थ है, वास्तविक है, परंतु उसका प्रतिपादन करना अशक्य है। त्रिकाली अखंडानंद ज्ञायक आत्मा परमार्थ है, परंतु उसका उपदेश कैसे दें? परमार्थ का प्रतिपादन परमार्थ द्वारा शक्य नहीं।

जो आत्मा को पूर्ण निश्चयरूप जानने के प्रयत्न में है, उसे अखंड की ओर झुके हुए भाव अर्थात् आत्मा को एकाग्र होकर पकड़ने के विचार आते हैं। वे भी आत्म-सम्मुख होने से वह व्यवहार श्रुतकेवली है, क्योंकि उसका प्रयोजन केवल परमार्थ में पहुँचाने का है। स्वतरफ झुका हुआ भाव अधूरा होते हुए भी पूर्ण को पकड़नेवाला होने से श्रुत में पूरा है, अत: व्यवहार श्रुतकेवली है।

जो जीव द्रव्यश्रुत द्वारा लोकालोक के परज्ञेयों को जानता है, अन्य पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्यायादि को जानता है, उसे व्यवहार से श्रुतकेवली कहते हैं। परसंबंधी ज्ञानपर्याय का संबंध आत्मा के साथ है, ज्ञेयों के साथ नहीं। जिसप्रकार दर्पण में पड़नेवाला अग्नि बर्फ आदि का प्रतिबिंब दर्पण से संबंधित है, अग्नि आदि परपदार्थों से नहीं; उसीप्रकार द्रव्यश्रुत द्वारा परज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान परज्ञेयों का नहीं, वह तो अपने ज्ञान की पर्याय है, अत: आत्मा से संबंधित है। इसप्रकार सर्व ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान अर्थात् जिसे सर्व शास्त्रों का ज्ञान है, वह व्यवहार से श्रुतकेवली है।

अब यहाँ दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं कि उपरोक्त सर्वज्ञान आत्मा है या अनात्मा?

यथार्थ समझकर वास्तविक अनुभव करने के लिये विकल्प से छूटकर, अंदर ठहरने के लिये चलनेवाली विचारश्रेणी आत्मा है, क्योंकि वह ज्ञान राग का नहीं, इंद्रियों का नहीं, पर का नहीं, पर-तरफ झुका हुआ नहीं; परंतु आत्मा की तरफ झुका हुआ है, आत्मा को ही जानता है। अत: वह ज्ञान आत्मा का ही है।

अब, इस श्रुतज्ञान को अनात्मा कहना उचित नहीं है - यह सिद्ध करते हैं। सर्वज्ञान को अनात्मरूप जड़ मानना उचित नहीं, क्योंकि अचेतन जड़ आकाश आदि पाँच द्रव्यों का ज्ञान के

साथ तादात्म्य नहीं है। यह सर्वज्ञान को आत्मा के साथ तादात्म्य करने के लिये है, स्व को जानने के विचार में प्रवर्तनेवाला ज्ञान है, रागादि अनात्मा की ओर लक्ष्य करने के लिये नहीं। अनात्मा की ओर झुका हुआ ज्ञान व्यवहार भी नहीं।

'मैं शरीरादि की क्रिया का तथा पुण्य-पापरूप विकार का कर्ता हूँ' - ऐसा विचारवाला और पाँच इंद्रियों के विषयों की ओर झुके, वह उपयोग तो अज्ञान है। जड़-अनात्मा में ज्ञान सिद्ध नहीं होता, परंतु मात्र ज्ञायकस्वभाव की ओर के विचारों से आत्मज्ञान होता है, अतः आत्मा का पक्ष सिद्ध होता है। परमार्थ को जानने के विचाररूप वर्तते सर्वज्ञान का तादात्म्य जाननेस्वरूप ज्ञायक आत्मा के साथ एकता करनेवाला सिद्ध होता है, अतः सर्व श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है।

स्वरूप सम्मुख श्रुतज्ञान का विचार भी आत्मा ही है। अतः जो आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है और यह परमार्थ है। यहाँ व्यवहार श्रुतकेवली कहने में दो अपेक्षायें कहते हैं :-

(१) सर्वज्ञ के न्याय अनुसार आत्मा को जानकर उसमें अखंड स्थिरता के लिये बिलकुल सम्मुख हुआ है, परंतु यथार्थ अनुभव से निर्विकल्प थिरता करके निश्चयश्रद्धा द्वारा अभेद परमार्थ को विषय नहीं बनाया, तो भी पूर्ण तक पहुँचने के विचाररूप अधूरा भाव है, उसे पूर्ण के लक्ष्य से पूर्ण का कारण जानकर व्यवहार से श्रुतकेवली कहा है।

(२) जिसने यथार्थतया अंतर में अखंड का लक्ष्य करके अनुभव तो किया है, और जो पुनः भावश्रुतज्ञान के अंतर उपयोग में आने के लिये अखंड स्वभाव की दृष्टि के जोर से साथ में वर्तते हुए मन संबंधी अल्पराग की ओर न झुककर अंतर में स्थिरता के लिए अखंड का विचार करता है; वह भी व्यवहार श्रुतकेवली है।

परमार्थ श्रुत अखंड आत्मा में ठहरने के लिये विचारों में भेद पड़ता है, परंतु लक्ष्य तो अभेद परमार्थ की ओर झुकने का ही है। गुण-गुणी का भेद करके अखंड की ओर ढलनेवाला, अखंड को कहनेवाला व्यवहार अंतर में स्थिर होने के पहले बीच में आता है, वह सर्व श्रुतज्ञान का अधूरा भाव व्यवहार में पूर्ण श्रुतकेवली है। यह व्यवहार पूर्ण परमार्थ में पहुँचनेवाले को गुण-गुणी के भेद द्वारा अभेद में जाने को ही कहता है, परंतु और कुछ तो कहता नहीं है।

अभेद के लक्ष्य से परमार्थ प्रगट होता है, परंतु उसमें जाते समय विचार करने में निमित्तरूप ज्ञान का विचार आये बिना नहीं रहता। इस अपेक्षा से 'जो सर्वश्रुतज्ञान को जानता है, वह श्रुतकेवली है' ऐसा व्यवहार परमार्थ में स्थिर होने के बीच में अपने को दृढ़ता से स्थापित करता है। निर्विकल्प से परमार्थ का प्रतिपादन होना आराध्य है, अतः व्यवहार दृढ़ता से आये बिना नहीं रहता। सर्वज्ञ के न्याय अनुसार नय, प्रमाण और निक्षेप द्वारा नवतत्त्व तथा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर परमार्थरूप अखंड को ख्याल में लेकर उसकी एकाग्र पकड़ होना चाहिये। जैसा है, वैसा जाने बिना पूर्ण आत्मा का लक्ष्य नहीं हो सकता। अतः आत्मा का परमार्थस्वरूप जैसा है, वैसा कहनेवाला व्यवहार का दृढ़ रूप से आये बिना नहीं रहता।

श्रुतरूप चौदहपूर्व का ज्ञान भी मात्र आत्मानुभव करने के लिये हैं। जो कार्य उत्कृष्ट श्रुतकेवली करें, वही कार्य अल्प उघाड़वाले श्रुतज्ञानी भी करते हैं, क्योंकि उन्होंने द्वादशांग का रहस्य जाना है। इस आशय से सर्व श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को ही जानने के लिये भेद करके विचार करे, परंतु उसमें स्थिर न हो वह व्यवहार श्रुतकेवली है और जब स्थिर हुआ तब परमार्थ श्रुतकेवली है। जिस कार्य के लिये पूर्णज्ञान करता है, वही कार्य अपूर्ण श्रुतज्ञान करता है, अतः वह सर्वश्रुत है।

अहो..... श्री अमृतचंद्राचार्य ने इस समयसार शास्त्र की अद्‌भुत टीका करके यथार्थ वस्तुस्वरूप बताया है। गजब अमृत बरसाया है, मानो समयसारजी में मोक्ष ही उतार दिया है।

'सर्वश्रुत' में अजब गंभीर अर्थ है। पंचेनिद्रय तिर्यंच में भी अल्पज्ञ को श्रुतकेवलीपना है, उसे भी परमार्थ भावश्रुत आत्मा का अभेद उपयोग होता है। पूर्ण के स्थिर होने के विचार में वर्तनेवाले तिर्यंच, मनुष्य आदि सभी श्रुतज्ञानी को व्यवहार से सर्वश्रुत कहा है।

यहाँ अंतर परिणमन की धारा देखने की सूक्ष्म बात है। शुभभाव के ऊपर बिलकुल वजन नहीं है। कोई कहे हमारे शुभभाव को तो बिलकुल उड़ा दिया। परंतु भाई! तत्त्व समझने में, उसके विचार में, जो शुभभाव सहज आता है; उतना ऊँचा शुभभाव क्रियाकांड में नहीं। एक घंटे ध्यान से तत्त्व सुने तो शुभभाव की सामायिक हो जाये।

जैसे स्वप्न के समय 'यह स्वप्न है', ऐसा नहीं कहा जा सकता और कहते समय स्वप्न

नहीं होता; उसीप्रकार अभेद अनुभव के समय विकल्प से कहा नहीं जा सकता और विकल्प के काल में केवल परमार्थ अनुभव नहीं होता। परमार्थ का लक्ष्य तो अखंड के लक्ष्य से ही होता है। बीच में भेद का विचार भले हो, परंतु भेद से अभेद का लक्ष्य नहीं होता। अभेद के लक्ष्य से भेद का अभाव करे, तब अभेद परमार्थ पकड़ा जाता है। भेद से अभेद होता है, यह तो उपचार से कहा है।

अहो..... एक बार सत्य सुनकर अंतर से समझे, स्वीकार करे तो परिभ्रमण का अंत आवे। यह ऊँची भूमिकावाले की बात नहीं, केवलज्ञानी के लिये यह कथन नहीं। चारित्र का विषय अभी दूर है। यह तो प्रथम सम्यग्दर्शन कैसे हो? इसकी बात है। जैसा तत्त्व सर्वज्ञ भगवान ने कहा है, वैसा ही जाने तो कोई भ्रमणा नहीं रहे। सभी अपेक्षाओं से विरोध दूर करके सत्य समझे तो अंदर से भणकार उठे कि 'बस! अब भव नहीं'। ऐसा भान होने के लिये ही आचार्यदेव कहते हैं।

व्यवहार द्वारा परमार्थ का प्रतिपादन होने से और व्यवहार के बिना परमार्थ समझाना अशक्य होने से, परमार्थ के प्रतिपादकरूप से व्यवहार का स्थापन करना पड़ता है; परंतु व्यवहार आदरणीय नहीं है। व्यवहार, निश्चय को बताता है तो भी व्यवहार द्वारा निश्चय साध्य न होने से व्यवहार आदर करनेयोग्य नहीं, मात्र परमार्थ के प्रतिपादन के लिये स्थापित करनेयोग्य है।

इस अंक के साथ आत्मधर्म का बत्तीसवाँ वर्ष पूरा हो रहा है।
इन बारह अंकों की जिल्द बंधवा कर निजी पुस्तकालय में
सुरक्षित रखिये अथवा मंदिरजी में भेंट दे दीजिये।

मोक्ष और मोक्षमार्ग

परमपूज्य दिगंबर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम 'नियमसार' की द्वितीय गाथा पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है :-

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिण सासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्ख उवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं॥२॥

मार्ग और मार्गफल ऐसे दो प्रकार का कथन जिनशासन में किया गया है। मार्ग मोक्षोपाय है और उसका फल निर्वाण है।

मार्ग अर्थात् मोक्ष का पंथ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्ष का मार्ग है। मार्ग वह आत्मा की निर्मल वीतरागी साधकदशा है और पूर्ण निर्मल मोक्षपद की प्राप्ति, वह मार्ग का फल है। स्वर्ग मिले, वह मोक्षमार्ग का वास्तविक फल नहीं है, वह तो राग का फल है।

जैसे, किसी नगर में जाने की सड़क हो, वैसे ही मोक्षनगर की सड़क कौन? कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है, वह मोक्षनगर की सड़क है और मोक्षदशा प्रकटे, वह मार्ग का फल है। इन दोनों का कथन जिनशासन में किया गया है। जिनशासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं मार्ग या मार्गफल का यथार्थ कथन नहीं है। मोक्ष का उपाय, वह मार्ग है और मोक्ष, वह मार्ग का फल है। प्रथम ही मार्ग क्या है? यह निर्णय करना चाहिये? मार्ग का स्वरूप सर्वज्ञ के शासन सिवाय अन्यत्र यथार्थ होता नहीं।

प्रथम गाथा में आचार्य ने नियमसार कहने की प्रतिज्ञा की थी। नियम अर्थात् रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग और सार अर्थात् शुद्धता; शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग, यह नियमसार है। मोक्षमार्ग क्या और उसका फल क्या है? यह द्वितीय गाथा में कहते हैं।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः'। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता मोक्षमार्ग है। अनंत शक्ति का पिण्ड आत्मा है। उसके आश्रय से होनेवाली रागरहित प्रतीति,

ज्ञान और रमणता, वह ही मोक्षमार्ग है। बीच में व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आये, वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है, अपितु बंधमार्ग है। मोक्ष का मार्ग तो निरपेक्ष है। राग में पर का अवलंबन है, वह मोक्षमार्ग नहीं है।

आत्मा की पूर्ण सहजानंददशा प्रकट करने के लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही मार्ग है। रत्नत्रय के बिना मोक्षफल नहीं मिलता, अतः शुद्धरत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है और मुक्तिरूपी स्त्री के विशाल भालप्रदेश में शोभा-अलंकाररूप तिलकपना मोक्षमार्ग का फल है। मोक्षरूपी स्त्री को वरण करना, वह मार्गफल है।

मोक्षमार्ग को रत्न की उपमा है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र वह रत्नत्रय है, और मोक्ष को स्त्री की उपमा दी है। मोक्षमार्ग रागरहित है और उसका फल पूर्णानंदमय मोक्षदशा है। इसप्रकार मार्ग और मार्ग का फल ऐसे दो प्रकार का कथन वीतराग सर्वज्ञ के शासन में है। भगवान ने ऐसे ही मोक्षमार्ग से मोक्षदशा प्राप्त की है। चैतन्यस्वभाव के आश्रय से होनेवाली श्रद्धा-ज्ञान-रमणता, वह मार्ग है और पूर्ण मोक्षदशा, वह मार्गफल है।

सम्यग्ज्ञान में सम्यग्ज्ञानी का ही निमित्त होता है, अन्य मिथ्या निमित्त नहीं होता। तथापि उस निमित्त की ओर के लक्ष्यवाला शुभराग मोक्षमार्ग नहीं है। निमित्त की ओर के लक्ष्य को छोड़कर स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र करे, वही मोक्षमार्ग है। वही गुरु की आज्ञा है अर्थात् ऐसी वीतरागी परिणति प्रकट करना ही गुरु की आज्ञा का आराधन है। राग में मोक्षमार्ग माननेवाले ने तो गुरु की आज्ञा की अवहेलना की है।

वीतराग शासन की आज्ञा तो ऐसी है कि आत्मा के आश्रय से जो वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रकट हुआ है, वही मोक्षमार्ग है। देव-शास्त्र-गुरु की ओर का शुभराग मोक्ष का मार्ग नहीं है। तो भी सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में निमित्तरूप से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही होते हैं, अज्ञानी की वाणी से सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञानी की ही देशना निमित्तरूप से मिलना चाहिये, किंतु वह तो व्यवहार में जाती है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के लक्ष्य में वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो निजपरमात्मतत्त्व की निरपेक्ष श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही है। ऐसा मार्ग प्रकट करना, वही वीतराग की आज्ञा है। चार ज्ञान के धारक गणधरादि संतों ने ऐसा ही मार्ग और मार्गफल बताया है। राग, वह मोक्षमार्ग नहीं है।

निज परमात्मदशा के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परम

निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है और उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (निज शुद्धात्मा की प्राप्ति) है।

निज परमात्मतत्त्व की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। दूसरे परमात्मा की श्रद्धा, वह व्यवहार श्रद्धा है, राग है। अपने परमात्मतत्त्व की सम्यक्श्रद्धा निरपेक्ष है और वही सम्यग्दर्शन है। परमोत्कृष्ट ज्ञायकस्वभाव परमानंद की मूर्ति ऐसे अपने आत्मा की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, वह व्यवहार है। यहाँ परमार्थ कथन में तो व्यवहार की बात गौण है।

निजपरमात्मा का ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है। शास्त्र का ज्ञान, व्यवहार ज्ञान है। चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होकर निजपरमात्मतत्त्व का जो ज्ञान हुआ, वही सम्यग्ज्ञान है। शब्द में कहीं ज्ञान नहीं; और शब्द की ओर का ज्ञान भी व्यवहार में जाता है। निज परमात्मतत्त्व में ही ज्ञान की पूर्ण शक्ति भरी है और उसी के आश्रय से ज्ञान प्रकट होता है। वह ज्ञान निमित्त में से, राग में से, या पर्याय में से नहीं आता; किंतु निजपरमात्मतत्त्व में से ही वह प्रकट होता है। ऐसा ज्ञान ही मोक्षमार्ग है।

ध्रुव परमात्मतत्त्व कभी सावरण नहीं है, वह तो सदा प्रकट ही है; उसके सन्मुख होने पर पर्याय में सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है। किसी जड़ वस्तु ने ज्ञान को रोका नहीं है। कोई प्रश्न करे कि आठ वर्ष की आयु होने से प्रथम केवलज्ञान क्यों नहीं होता? क्या कोई आवरण रोकता है? तो कहते हैं कि नहीं। कोई किसी को रोकता नहीं, किंतु उस आत्मा की ज्ञान की पर्याय में ही वैसी योग्यता है। अंतर में ज्ञान की एकाग्रता के अभाव के कारण ही ज्ञान का विकास रुका है, किसी आवरण के कारण नहीं। ध्रुवस्वभाव त्रिकाल है। जितना उसका आलंबन लेता है, उतना ही ज्ञान का विकास होता है। ऐसे ध्रुवतत्त्व के अवलंबन से जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रकट हुआ, वही मोक्षमार्ग है, वही नियमसार है।

अंतर में मोक्षमार्ग की रीति जाने बिना बाह्य में भटकने से कहीं कार्यसिद्धि नहीं होती। मोक्षमार्ग अपने परमात्मतत्त्व के आश्रय है। परमात्मतत्त्व किसको कहें? दूसरे परमात्मा हुए, उनकी तो बात ही नहीं, क्योंकि उनके लक्ष्य से तो राग होता है और अपनी शुद्ध पर्याय प्रकट हुई, वह भी परमात्मतत्त्व नहीं है; किंतु जो त्रिकाली स्वभाव है, वही परमात्मतत्त्व है और उसी का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

निज परमात्मतत्त्व का अनुष्ठान वह सम्यक्चारित्र है। बाह्य में व्रतादि का अनुष्ठान तो

शुभराग है, वह वास्तविक चारित्र नहीं है; किंतु पुण्य-पाप के भाव से रहित निज परमात्मतत्त्व में एकाग्रतारूप दशा ही सच्चा अनुष्ठान है, वही सम्यक्चारित्र है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों में ही निजपरमात्मतत्त्व का ही अवलंबन है, बाह्य में किसी पर का अवलंबन नहीं है। निजपरमात्मतत्त्व के अतिरिक्त किसी भी 'पर' का अवलंबन शुद्ध रत्नत्रय में नहीं है। इसीलिये वह रत्नत्रय परम निरपेक्ष है और उसी को गणधरों ने मोक्षमार्ग कहा है।

यह मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है। ध्रुवपरमात्मतत्त्व की अपेक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त, विकल्प या व्यवहार की अपेक्षा शुद्ध रत्नत्रय को नहीं है। अहो! रत्नत्रय तो परम निरपेक्ष है। ऐसा निरपेक्ष रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। निमित्त से हो या राग से हो, ऐसी अपेक्षा मोक्षमार्ग को नहीं है।

मोक्षमार्ग में 'पर' की अपेक्षा माने तो उसे अंतरतत्त्व में झुकाव नहीं हो सकता। अंतरस्वभाव का आश्रय लिया, उसमें किसी पर की, राग की या भेद की अपेक्षा नहीं है – ऐसा निरपेक्ष मोक्षमार्ग है। निमित्त और राग तो ज्ञान करने के लिये हैं, किंतु उनकी अपेक्षा से दर्शन-ज्ञान-चारित्र विकसित होगा अथवा प्रकट होगा – ऐसी अपेक्षा मोक्षमार्ग को नहीं है।

शुद्ध रत्नत्रय अर्थात् निजपरमात्मतत्त्व की सम्यक् श्रद्धा, उसका सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण। पर की तथा भेदों की लेशमात्र अपेक्षा रहित होने से वह शुद्ध रत्नत्रय मोक्ष का उपाय है और उसका फल मोक्ष है।

जिसको स्व की अपेक्षा है और पर की अपेक्षा नहीं है – ऐसा मोक्षमार्ग है। राग की अपेक्षा से मोक्षमार्ग का प्रवर्तन नहीं है। वह तो राग के अभाव से और ध्रुव चैतन्य परमात्मतत्त्व के आश्रय से ही प्रवर्तता है।

शुद्ध रत्नत्रय को अशुद्धता की अपेक्षा नहीं। व्यवहाररत्नत्रय है, इसलिये निश्चयरत्नत्रय है—ऐसी व्यवहार की अपेक्षा भी मोक्षमार्ग को नहीं। निरपेक्ष मोक्षमार्ग में पर की या भेद की अपेक्षा है ही नहीं। प्रथम भेद या राग आता है, किंतु वह मोक्षमार्ग का कारण नहीं; मोक्षमार्ग तो उनसे निरपेक्ष है।

निरावलंबी मोक्षमार्ग है, अकेले स्वभाव के ही अवलंबन से मोक्षमार्ग है, परम निरपेक्ष

मोक्षमार्ग है। कोई कहे कि क्या मोक्षमार्ग में व्यवहार नहीं है ? तो कहते हैं कि व्यवहार में व्यवहार है किंतु निरपेक्ष मोक्षमार्ग में वह व्यवहार नहीं है। परमात्मतत्त्व के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रकट हुआ, उसमें व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। शुभराग हो भले ही, किंतु मोक्षमार्ग उसके आश्रय से नहीं है। ज्ञानी गुरु निमित्त होता है, किंतु उसके आश्रय से सम्यग्ज्ञान नहीं होता, वह तो निजपरमात्मतत्त्व के ही आश्रय से होता है।

ज्ञानी गुरु भी ऐसा ही बताते हैं कि तू अपने स्वभाव के सन्मुख हो तो तुझे रत्नत्रय प्रकट होगा, कहीं निमित्त के सन्मुख होने से वह प्रकट नहीं होगा। इसप्रकार निरपेक्ष समझ कर निजपरमात्मतत्त्व के आश्रय से रत्नत्रय प्रकट करे, तब गुरु के निमित्त की अपेक्षा से व्यवहार लागू पड़ता है, फिर भी मोक्षमार्ग तो निरपेक्ष वीतरागी है।

अंतर में अभेदता हो, वही मोक्षमार्ग है; भेद करके विकल्प हो, वह मोक्षमार्ग नहीं है। शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग 'परम निरपेक्ष है', ऐसा संतों का उपदेश है और वही मोक्षमार्ग है।

मेरे आत्मा के लिये सभी परद्रव्य अभावस्वरूप हैं, उनका अवलंबन मुझे नहीं है, मेरा ध्रुव परमात्मस्वभाव ही मेरे रत्नत्रय का आश्रय है। कहीं भी 'पर' के आश्रय से लाभ की जिसकी मान्यता है, उसने मोक्षमार्ग को निरपेक्ष माना ही नहीं। पंचमहाव्रतादि की वृत्ति उठी, उसके अवलंबन से मेरा चारित्र विकसित होगा - ऐसी जिसकी मान्यता है, उसको ध्रुव परमात्मतत्त्व के अवलंबन से मेरा मोक्षमार्ग है, ऐसी श्रद्धा-प्रतीति नहीं है।

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान में पर की या विकल्प की अपेक्षा नहीं है और सम्यक्चारित्र में भी पर की या पंचमहाव्रत के विकल्प की अपेक्षा नहीं है। भव्य-समूह ऐसे मोक्षमार्ग को जानकर मोक्ष प्राप्त करे, इसीलिये इस शास्त्र की रचना हुई है। निजात्मा परिपूर्ण अनंतशक्ति का पिण्ड है। उसमें अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है। अभेद चैतन्य की अपेक्षा है, किंतु भेद की अपेक्षा नहीं है। स्व की अपेक्षा है, किंतु पर की अपेक्षा नहीं है। - ऐसा परम निरपेक्ष मोक्षमार्ग है, वही वीतरागी संतों ने कहा है।

और उस शुद्ध रत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (निज शुद्धात्मा की प्राप्ति) है। अपने आत्मा की पूर्ण शुद्ध मुक्तदशा प्रकट होना ही शुद्धात्मा की प्राप्ति है। बीच में देवपद मिले, वह राग का फल है, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो निरपेक्ष अपने में है और उसका फल भी अपने में है। अपना आत्मा ही भगवान बन जाये, वही मोक्षमार्ग का फल है।

देखो ! वीतरागी संतों ने कैसा निरपेक्ष मोक्षमार्ग बताया है। वे संत ऐसे निरपेक्ष मोक्षमार्ग की साधना स्वयं कर रहे हैं और उस साधना के करते-करते यह रचना हो गयी है। संतों को तो मुक्तिदशा ही सर्वप्रिय है, इसीलिये उसे स्त्री की उपमा दी है। जगत को प्रिय स्त्री है, तो संतों को प्रिय मोक्षरूपी स्त्री है। ऐसे महामुनियों को जो जीव आरोप लगाते हैं, वे तो स्वच्छंदी हैं।

कोई कहे कि मुनि होकर भी मोक्ष को स्त्री की उपमा क्यों दी ? क्या किसी सुंदर और स्वस्थ उपमा का उनके पास अभाव था ? तो कहते हैं कि संसारी जीवों को स्त्री की प्रीति है, उसको छुड़ाकर मोक्ष की प्रीति कराने के लिये उसे स्त्री की उपमा दी है। संसार की प्रीति की दिशा को बदलकर मोक्ष की प्रीति की ओर उन्मुख किया है। संत तो स्वयं निरपेक्ष और वीतरागी ही हैं।

अब, द्वितीय गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :-

क्वचिद्व्रजति कामिनीरतिसमुत्थसौख्यंजनः।
क्वचिद्विणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः॥
क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पण्डितो।
निजात्मनि रतो भवेद्व्रजति मुक्तिमेतां हि सः॥९॥

श्लोकार्थ - मनुष्य कभी कामिनी के प्रति रति से उत्पन्न होनेवाले सुख की ओर गति करता है और फिर कभी धन रक्षा की बुद्धि करता है। जो पंडित कभी जिनवर के मार्ग को प्राप्त करके निजात्मा में रत हो जाते हैं, वे वास्तव में इस मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

मुनिराज कहते हैं कि स्त्री आदि के विषयों में तो जगत् के जीव अनादि से रत हैं हीं, किंतु वह तो संसार का कारण है। परंतु जिनवर के मार्ग को पाकर जो अपने आत्मा में रत होते हैं, वे ही वास्तव में पंडित हैं, और वे ही मोक्ष पाते हैं।

पंडित उन्हें कहते हैं कि जो जीव जिनवर के निरपेक्ष मार्ग को समझकर अपने आत्मा में रत होते हैं, और वे ही वास्तव में मुक्ति को पाते हैं। आत्मा में रत होने को ही मार्ग कहा और उसी के फल में मोक्ष पाते हैं - ऐसा कहा।

इस भाँति मूलसूत्र में कथित मार्ग और मार्गफल का स्वरूप इस कलश में समझा दिया।

●●

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

जीवद्रव्य की व्याख्या चलती है। जगत में जीव अनादि-अनंत स्वतंत्र वस्तु है, और उसका ज्ञान स्वभाव है। उस ज्ञानस्वभाव की प्रति समय अवस्था (पर्याय) होती है, वह भी स्वतंत्र है। जिसको धर्म करना हो, उसको ऐसे स्वतंत्र आत्मा को जानना चाहिये। 'धर्म करना है' इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान अवस्था में धर्म नहीं है, किंतु त्रिकालीशक्ति परिपूर्ण है, उसके (आत्मा के) आश्रय से पर्याय में धर्म नया होता है। अर्थात् त्रिकाली शक्ति की प्रतीति करे और प्रतिक्षण होती हुई पर्याय को स्वतंत्र जानकर उस त्रिकाली शक्ति का अवलंबन करे तो धर्म होता है।

जीवतत्त्व ज्ञानस्वभावी है। उस ज्ञान की पर्याय आठ प्रकार की है। ज्ञेय क्या है? उपादेय क्या है? और हेय क्या है? इसके ज्ञान बगैर धर्म नहीं होता। 'मैं ज्ञायक मूर्ति भगवान हूँ, ऐसा स्वयं का शुद्ध त्रिकाली स्वभाव आदरणीय है, और क्षणिक पर्याय का तथा पर का लक्ष्य छोड़ने जैसा है। जिसको आत्मा की समझ नहीं है, उसको भी ज्ञान की प्रति समय अवस्था-पर्याय तो होती ही रहती है। उसको कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधिज्ञान होात है तथा आत्मा के भानसहित हो तो सम्यक्मति-श्रुत-अवधिज्ञान होता है। मति-श्रुतज्ञान तो सभी छद्मस्थ जीवों के होता है। अवधिज्ञान अमुक जीवों को ही होता है। इसमें अब श्रुतज्ञान का वर्णन चलता है।

शुद्ध निश्चयनय से आत्मा परिपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानस्वभावी है। लेकिन पर्याय में ज्ञानावरणी कर्म के निमित्त से ज्ञान की हीनता है। ज्ञान की हीनता तो स्वयं के कारण से हुई है, लेकिन उसमें निमित्तरूप अन्य वस्तु (ज्ञानावरणी कर्म) है, ऐसा जानना चाहिये। उसमें श्रुत ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम श्रुतज्ञान का निमित्त है। यहाँ जीव के उपयोग में श्रुतज्ञान की योग्यता है और तदनुसार जड़कर्मों में ज्ञानावरण का क्षयोपशम है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने पर भी

ज्ञान का परिणमन स्वतंत्र है। जिसको स्वयं के ज्ञान में पदार्थ की स्वतंत्रता की स्वीकृति नहीं है, उसको सत्य की समझ-बुद्धि नहीं है और उसको धर्म नहीं होता। श्रुतज्ञान-पर्याय को पहिचानने में कितनी बातें आ जाती हैं, यह कहते हैं।

पहिले तो जीव को माने, उसके स्वभाव को माने, और उसके समय-समय के परिणमन को माने; उसमें जीव की पर्याय में श्रुतज्ञान की योग्यता हो, तब ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम निमित्त होता है। किंतु आठ पांखुड़ीवाले कमल के आकार जड़-मन है, वह भी श्रुतज्ञान में निमित्त है। इसीप्रकार ही अध्यापक पुस्तक प्रकाश वगैरह संयोग भी श्रुतज्ञान का निमित्त है। श्रुतज्ञान कितना जानता है? जगत के मूर्त-अमूर्त समस्त पदार्थों को परोक्षपने-परोक्षरूप से जानता है। केवलज्ञान तो संपूर्ण लोकालोक को प्रत्यक्ष जाननेवाला है, और श्रुतज्ञान में लोकालोक को परोक्ष जानने का सामर्थ्य है। श्रुतज्ञान के तर्क द्वारा लोकालोक के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। केवलज्ञान तो पूर्णानंद परमात्मदशा है, वह तो संपूर्ण पदार्थों को पूर्ण प्रत्यक्ष जानता है और चिदानंदस्वभाव की रमणता से उस केवलज्ञान का जो साधक है, उस जीव के श्रुतज्ञान में भी इतना सामर्थ्य है कि तर्क की व्याप्ति के बल से लोकालोक को जान लेता है। यह ज्ञान परोक्ष है, पूर्ण स्वभावसामर्थ्य का जिसको विश्वास प्रगट हुआ है, लेकिन अभी पूर्ण केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है। अभी मति-श्रुतज्ञानरूप साधकदशा वर्तती है - मौजूद है। ऐसे साधक जीव के ज्ञान में लोकालोक से परोक्ष जानने का सामर्थ्य है।

देखिये! इस श्रुतज्ञान में भी आंशिक प्रत्यक्षपने लेंगे, सर्वथा एकांत परोक्ष नहीं है। श्रुतज्ञान का ऐसा सामर्थ्य है कि लोकालोक है, उसको जाने। जो ऐसा नहीं माने तो वह जीव श्रुतज्ञान के ऐसे सामर्थ्य को नहीं मानता।

भगवान चिदानंद प्रभु ज्ञाता है। उसकी प्रतीति कर उसमें एकाग्र होने से केवलज्ञान खिल जाता है, विकसित हो जाता है, और वह केवलज्ञान समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है। ऐसा केवलज्ञान होने से पहिले, साधकदशा में श्रुतज्ञान भी लोकालोक के मूर्त-अमूर्त पदार्थों को परोक्षरूप से जानने का सामर्थ्यवाला है। चिदानंदस्वरूप के आनंद का अनुभव तो साधक जीव को भी स्वसंवेदन में आता है।

केवली भगवान को आनंद का जैसा अनुभव है, वैसा ही आनंद का अंश साधक जीव

स्वसंवेदन से अनुभव करता है। केवली भगवान आत्मा के असंख्य प्रदेशों को स्पष्ट प्रत्यक्ष देखते हैं, और साधक जीव आत्मा के असंख्य प्रदेशों को प्रत्यक्ष नहीं देखता, इतना अंतर है। जैसे देखनेवाला मनुष्य शर्करा (मिश्री) देखता है, और अंध व्यक्ति उसको नजर से – दृष्टि से नहीं देखता। लेकिन खाने में शर्करा का स्वाद तो जैसा देखनेवाले को आता है, वैसा ही अंध व्यक्ति को आता है। इसीप्रकार केवली भगवान आत्मा को प्रत्यक्ष जानते हैं, और छद्मस्थ जीव परोक्ष जानते हैं। किंतु केवली भगवान ने आत्मा को जैसा देखा है, वैसा ही छद्मस्थ जीव परोक्ष देखता है तथा केवली भगवान जैसा ही आनंद का अंश – वह स्वयं के स्वसंवेदन से अनुभव करता है।

जैसे किसी व्यक्ति ने अमेरिका वगैरह देश देखे हों और दूसरे व्यक्ति ने नजर से न देखे हों, किंतु नक्शे से अथवा किसी से सुनकर निर्णय किया हो; वैसे ही स्वर्ग–नरक असंख्य द्वीप समुद्र वगैरह लोकालोक को केवली भगवान तो प्रत्यक्ष जानते हैं, और श्रुतज्ञानी जीव उसको परोक्ष जानता है।

स्वर्ग–नरक वगैरह पदार्थ शाश्वत् हैं, उन्हें केवली भगवान ने प्रत्यक्ष देखा है, उसको न माने, वह मिथ्यादृष्टि है। साधक जीव स्वयं के ज्ञान से शास्त्र द्वारा स्वर्ग–नरकादि को परोक्ष जानता है। स्वर्ग–नरक वगैरह बाह्य पदार्थों को जाननेवाला श्रुतज्ञान परोक्ष है।

किंतु अंदर में सुख–दुःख के विकल्प होते हैं, वे स्वयं को किंचित् परोक्ष हैं। 'मैं सुखी, मैं दुःखी' ऐसा जो ज्ञान होता है, वह किंचित् परोक्ष है। देखिये! मतिज्ञान के विषय में सुख–दुःख की बात नहीं ली। सुख–दुःख के ज्ञानपूर्वक उसका वेदन होता है, और वह श्रुतज्ञान का विषय है। बाहर के पदार्थों में तो सुख–दुःख नहीं है, लेकिन बाहर के पदार्थों के लक्ष्य से सुख–दुःख की कल्पना होती है, उसको श्रुतज्ञान जानता है। वहाँ सुख–दुःख की मनोदशा को श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष नहीं जानता, इसलिये वह परोक्ष है। लेकिन वेदन में तो वह प्रत्यक्ष है, सुख–दुःख का वेदन कोई परोक्ष नहीं है।

पर के कारण से सुख–दुःख होता है, ऐसा जाने तो वह मिथ्याज्ञान है। ज्ञानी 'पर' के कारण से सुख–दुःख नहीं मानता, लेकिन स्वयं की कमजोरी से सुख–दुःख की भावना होती है, उसको श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है। देखिये! सुख–दुःख की भावना अरूपी है, वह इंद्रियों से

नहीं जानी जाती। तब भी श्रुतज्ञान में उसके जानने का सामर्थ्य है। अथवा 'मैं अनंत ज्ञान आनंद आदि स्वरूप हूँ, शक्तिरूप से पूर्ण हूँ, व्यक्तरूप से पर्याय में अपूर्ण हूँ' – इत्यादि ज्ञान है, उस अंश से परोक्ष और आंशिक स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष है। आंशिक विकास प्रगट है, उसका वेदन श्रुतज्ञानी को प्रत्यक्ष है।

तथा जो भावश्रुतज्ञान है, वह शुद्धात्मा स्वसन्मुख होने से सुख-संवेदनरूप है। उस सम्यक्श्रुतज्ञान का विषय अखंडानंद ज्ञायकमूर्ति आत्मा है। और वह निज आत्मज्ञान के आकार से स्व-विषय में संबंधित होने से सविकल्प है अर्थात् विशेषज्ञान के भागवाला (हिस्सेदार भागीदार) स्व-सन्मुख व्यापार में रहनेवाला है।

यहाँ विकल्प अर्थात् राग नहीं, किंतु विशेष आत्मज्ञान के व्यापार (प्रवृत्ति) की अपेक्षा से भावश्रुतज्ञान सविकल्प है। तो भी इंद्रिय-मन के ओर के झुकाव से होनेवाले शुभ-अशुभ भाव से रहित होने की अपेक्षा से वही ज्ञान निर्विकल्प है। ज्ञान में चैतन्य को विषय बनाया, इस अपेक्षा से सविकल्प है। और वह ज्ञान जितना स्व-सन्मुख है, और जितने अंश में राग घटा है – टला है, उतने अंश में निर्विकल्प है। भावश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जाना, ऐसा कहना, यह भेद-कथन है, लेकिन अभेददृष्टि से वही भावश्रुतज्ञान आत्मज्ञान कहा जाता है।

इसप्रकार श्रुतज्ञान के अनेक पहलुओं को बताया। अब प्रत्यक्ष किसप्रकार है, यह कहेंगे।

जीव की उपयोग-पर्याय में हीनता हो, तब इंद्रियाँ केवल निमित्त होती हैं, लेकिन उस निमित्त के कारण से जीव का उपयोग नहीं होता। जीव स्वयं ही उपयोगमय है, श्रुतज्ञान-पर्याय के समय श्रुतज्ञानावरणी का क्षयोपशम तथा द्रव्यमन, अध्यापक, शास्त्र वगैरह निमित्त होते हैं। वह ज्ञान स्वयं के उपयोगस्वभाव से मूर्त-अमूर्त पदार्थों को लोकालोक की व्याप्तिरूप ज्ञान से जानता है। लेकिन वह परोक्ष जानता है किंतु शब्द के निमित्तवाला जो श्रुतज्ञान है, वह तो परोक्ष ही है।

स्वर्ग-मोक्ष वगैरह बाह्य क्रियाओं का ज्ञान हो, वह भी परोक्ष है, अंतरंग में सुख-दुःख का वेदन हो, वह किंचित् परोक्ष है और वेदन अपेक्षा से किंचित् प्रत्यक्ष है। अनंत ज्ञानमय आत्मा है, उसका धर्मी जीव को अंतरंग में स्वसंवेदन होता है। उसमें राग टूटकर, आंशिक दूर

होकर जितना निर्विकल्प स्वसंवेदन हुआ, उतना तो प्रत्यक्ष है। लेकिन सर्वज्ञ की तरह असंख्यप्रदेशी आत्मा प्रत्यक्ष नहीं जानता, इससे परोक्ष है।

ज्ञायक चिदानंदस्वभाव की ओर झुककर सुख के स्वसंवेदन का ज्ञान होता है, इस अपेक्षा से श्रुतज्ञान 'सविकल्प' है। विकल्प का अर्थ यहाँ राग नहीं समझना, लेकिन सुख के स्वसंवेदन को विशेषरूप से जानता है। इस अपेक्षा से श्रुतज्ञान 'सविकल्प' है, और उस स्वसंवेदन में रागरूप विकल्प का अभाव है। इस अपेक्षा से वह स्वसन्मुखी श्रुतज्ञान 'निर्विकल्प' है। उसीप्रकार वह श्रुतज्ञान-पर्याय, अंतर में झुककर-नमकर आत्मा के साथ अभेद हुई है, इससे उसको ही अभेदरूप से 'आत्मज्ञान' कहते हैं।

देखिये! इस आत्मा की श्रुतज्ञान-पर्याय का स्वभाव! जिसको अखंड ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई हो, उसको श्रुतज्ञान-पर्याय के ऐसे सामर्थ्य का भी ज्ञान (भान) होता है। द्रव्यदृष्टि में पर्याय अभूतार्थ होने पर भी, जिसको ऐसी द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है, उसको पर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है। शुद्ध आत्मा के स्वसंवेदनरूप जो भावश्रुतज्ञान है, वह चारित्र बिना नहीं होता। चौथे गुणस्थान में भी जहाँ शुद्ध आत्मा का स्वसंवेदन हुआ, वहाँ स्वरूपाचरणचारित्र होता है। चौथे गुणस्थान का स्वसंवेदनरूप श्रुतज्ञान है, वह स्वरूपाचरणचारित्र बगैर नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान में विशेष स्वसंवेदनरूप ज्ञान है, वह ज्ञान देशचारित्र बगैर नहीं होता।

छठवें-सातवें गुणस्थान में विशेष (अधिक) स्वसंवेदनज्ञान है, वहाँ सकलचारित्र बगैर वह नहीं होता। अर्थात् कि **जैसे स्वसंवेदन ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे राग का अभाव भी होता जाता है। जैसे-जैसे राग का अभाव होकर वीतरागी चारित्र प्रगट होता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान का स्वसंवेदन भी बढ़ता जाता है।**

जब राग और ज्ञान को एक मानता था, उस समय अनंत राग था, और जहाँ राग से भेदज्ञान होकर ज्ञानस्वभाव के साथ एकता हुई, वहाँ राग के अंश का अभाव हुये बिना नहीं रहता। इसप्रकार ज्ञान और चारित्र का मेल (एकता) होता है। ज्ञान में शुद्धात्मा का अधिक स्वसंवेदन हो और राग जरा भी न घटे, ऐसा नहीं होता। अनंतानुबंधी कषाय का अभाव होकर स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुए बिना चौथे गुणस्थान का स्वसंवेदन ज्ञान भी नहीं होता।

देखिये! यहाँ रागरहित वीतरागी चारित्र की बात ली है, बाहर की क्रिया की बात नहीं

ली। निमित्त अथवा शुभराग बिना ज्ञान न हो, ऐसा नहीं कहा। लेकिन अंतरंग में वीतरागी चारित्रदशा बगैर भावश्रुतज्ञान नहीं होता। **चौथे गुणस्थान में भी अनंतानुबंधी कषाय का अभाव हुआ है, उतना वीतरागी स्वरूपाचरणचारित्र हुआ है। कुछ मुनिदशा हो तो ही आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान हो और गृहस्थावस्था में सम्यक्त्वी को स्वसंवेदन न हो, ऐसा नहीं है।** चौथे-पाँचवें गुणस्थान में गृहस्थावस्था में भी भावश्रुतज्ञान से शुद्धात्मा का स्वसंवेदन होता है। गुणस्थानानुसार स्वसंवेदन बढ़ता जाता है, और राग टूटता (घटता) जाता है।

इस स्वसंवेदनरूप जो भावश्रुतज्ञान है, वह भी केवलज्ञान की अपेक्षा से तो परोक्ष है। लेकिन छद्मस्थ जीवों के क्षायिक ज्ञान तो होता नहीं, इसलिये यह भावश्रुतज्ञान परोक्ष होने पर वह प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। केवलज्ञान जैसा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, तो भी स्वसंवेदन की आंशिक अपेक्षा से वह भावश्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष है। [क्रमशः]

मोह की महिमा

मोक्षमार्गप्रकाशक और उसके कर्त्ता आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी से आज कौन आत्मार्थी अपरिचित है? दिगम्बर जैन समाज में वे सर्वाधिक पढ़े जानेवाले अद्वितीय महापुरुष हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक के चतुर्थ अधिकार के अंत में वे मोह का माहात्म्य इसप्रकार अभिव्यक्त करते हैं:-

देखो इसकी (मोह की) महिमा, कि जो पर्याय धारण करता है, वहाँ बिना ही सिखाये मोह के उदय से स्वयमेव ऐसा ही परिणमन होता है। तथा मनुष्यादिक को सत्य विचार होने के कारण मिलने पर भी सम्यक्परिणमन नहीं होता और श्रीगुरु के उपदेश का निमित्त बने, वे बारंबार समझायें, परंतु यह कुछ विचार नहीं करता। तथा स्वयं को भी प्रत्यक्ष भासित हो, वह

तो नहीं मानता और अन्यथा ही मानता है। किसप्रकार ? सो कहते हैं :-

मरण होने पर शरीर - आत्मा प्रत्यक्ष भिन्न होते हैं। एक शरीर को छोड़कर आत्मा अन्य शरीर धारण करता है; वहाँ व्यंतरादिक अपने पूर्वभव का संबंध प्रगट करते देखे जाते हैं, परंतु इसको शरीर से भिन्न बुद्धि नहीं हो सकती। स्त्री-पुत्रादिक अपने स्वार्थ के सगे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, उनका प्रयोजन सिद्ध न हो, तभी विपरीत होते दिखायी देते हैं, यह उनमें ममत्व करता है और उनके अर्थ नरकादिक में गमन के कारणभूत नानाप्रकार के पाप उत्पन्न करता है। धनादिक सामग्री किसी की किसी के होती देखी जाती है, यह उन्हें अपनी मानता है। तथा शरीर की अवस्था और बाह्य सामग्री स्वयमेव उत्पन्न होती तथा विनष्ट होती दिखायी देती है, यह वृथा स्वयं कर्ता होता है। वहाँ जो कार्य अपने मनोरथ के अनुसार होता है, उसे तो कहता है - 'मैंने किया'; और अन्यथा हो तो कहता है - 'मैं क्या करूँ ?' ऐसा ही होना था अथवा ऐसा क्यों हुआ ? - ऐसा मानता है। परंतु या तो सर्व का कर्ता ही होना था या अकर्ता रहना था, सो विचार नहीं है।

तथा मरण अवश्य होगा, ऐसा जानता है परंतु मरण का निश्चय करके कुछ कर्तव्य नहीं करता, इस पर्याय संबंधी ही यत्न करता है। तथा मरण का निश्चय करके कभी तो कहता है कि - मैं मरूँगा और शरीर को जला देंगे। कभी कहता है - मुझे जला देंगे। कभी कहता है - यश रहा तो हम जीवित ही हैं। कभी कहता है - पुत्रादिक रहेंगे तो मैं ही जीऊँगा। - इसप्रकार पागल की भाँति बकता है, कुछ सावधानी नहीं है।

तथा अपने को परलोक में जाना है, यह प्रत्यक्ष जानता है, उसके तो इष्ट-अनिष्ट का यह कुछ भी उपाय नहीं करता और यहाँ पुत्र, पौत्र आदि मेरी संतति में बहुत काल तक इष्ट बना रहे - अनिष्ट न हो, ऐसे अनेक उपाय करता है। किसी के परलोक जाने के बाद इस लोक की सामग्री द्वारा उपकार हुआ देखा नहीं है, परंतु इसको परलोक होने का निश्चय होने पर भी इस लोक की सामग्री का ही पालन रहता है।

तथा विषय कषायों की परिणति से तथा हिंसादि कार्यों द्वारा स्वयं दुखी होता है, खेद खिन्न होता है, दूसरों का शत्रु होता है, इस लोक में निंद्य होता है, परलोक में बुरा होता है - ऐसा स्वयं प्रत्यक्ष जानता है, तथापि उन्हीं में प्रवर्तता है। - इत्यादि अनेक प्रकार से प्रत्यक्ष

भासित हो, उसका भी अन्यथा श्रद्धान करता है, जानता है, आचरण करता है, सो यह मोह का माहात्म्य है।

इसलिये हे भव्य! यदि दु:खों से मुक्त होना चाहता है तो इन मिथ्यादर्शनादिक विभाव भावों का अभाव करना ही कार्य है; इस कार्य के करने से तेरा परम कल्याण होगा।

यदि आपका अगले वर्ष का आत्मधर्म का शुल्क अभी तक जमा नहीं हुआ हो तो शीघ्रता कीजिये।

३० जून तक शुल्क जमा न होने की स्थिति में हो सकता है कि आपको जुलाई अंक प्राप्त न हो।

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न– क्या राग आत्मा से भिन्न है ? क्या वह निषेध करनेयोग्य भी है ?

उत्तर– हाँ, राग आत्मा से भिन्न है, राग में ज्ञान गुण नहीं है और जिसमें ज्ञान गुण न हो, उसको आत्मा कैसे कहा जाये – इसलिये राग है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा की शक्ति के निर्मल परिणाम से राग का परिणाम भिन्न है। आत्मा से भिन्न कहो या निषेध योग्य कहो। मोक्षार्थी को जैसे पराश्रित राग का निषेध है, उसीप्रकार पराश्रित ऐसे सर्व व्यवहार का भी निषेध ही है, राग और व्यवहार दोनों एक ही कक्षा में हैं – दोनों ही पराश्रित होने से निषेध योग्य हैं, और उनसे विभक्त चैतन्य का एकत्व स्वभाव, वही परम आदरणीय है।

प्रश्न– राग को जीव का कहें या पुद्गल का ?

उत्तर– राग जीव अपनी पर्याय में स्वयं करता है, अत: पर्यायदृष्टि से जीव का है। द्रव्यदृष्टि से जीवस्वभाव में राग है ही नहीं; अत: राग जीव का नहीं, पुद्गल के लक्ष्य से होता होने से पुद्गल का है।

प्रश्न– एक खूंटे से बाँध कर रखिये न ?

उत्तर– जिस अपेक्षा से कहा जाता है, उस अपेक्षा से खूंटा मजबूत ही है। राग को सर्वथा पर का ही माने तो जीव स्वच्छंदी जो जायेगा और राग को सर्वथा अपना स्वभाव ही माने तो कभी उसका अभाव नहीं हो सकेगा। अत: पहले राग स्वयं ही अपने अपराध से करता है, कर्म नहीं कराते; ऐसा निर्णय करके, फिर स्वभावदृष्टि कराने के लिये राग मेरा स्वरूप नहीं, औपाधिक भाव है – ऐसा कहा है। यहाँ राग को कर्मजन्य कहके राग का लक्ष्य छुड़ाकर स्वभाव का लक्ष्य कराया है।

प्रश्न– सम्यग्दर्शन तो राग छोड़ने पर होता है न ?

उत्तर– राग की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने पर राग से भिन्नता भासित होती है, राग सर्वथा नहीं छूटता; पर राग को दुखरूप जानकर उसकी रुचि छूटती है।

प्रश्न– अपनी आत्मा को जानने से ही सम्यग्दर्शन होता है तो फिर अरहंत के द्रव्य–गुण–पर्याय को जानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर– अरहंत के द्रव्य–गुण–पर्याय को जानना आवश्यक है। अरहंत की पूर्ण पर्याय को जानने पर ही, वैसी पर्याय अपने में प्रगट नहीं हुई है, इसलिये उसे स्वद्रव्य की तरफ लक्षित करने पर दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है और सर्वज्ञ–स्वभाव की प्रतीति होती है। इसलिये अरहंत के द्रव्य–गुण–पर्याय को जानने पर सम्यग्दर्शन हुआ – ऐसा कहा जाता है।

प्रश्न– परद्रव्य के जानने की तरफ परणति जाये अर्थात् उपयोग बाह्य में भटके, उस समय वीतरागता बनी रहती है अथवा नहीं ?

उत्तर– स्वाश्रय से जितनी वीतराग परिणति हुई है, उतनी वीतरागता तो परज्ञेय की तरफ लक्ष्य जाने के समय भी टिकी रहती है। परंतु साधक को परज्ञेय की तरफ उपयोग के समय पूर्ण वीतरागता नहीं है अर्थात् राग और विकल्प है, क्योंकि परज्ञेय की ओर उपयोग हो और उस समय संपूर्ण वीतरागता हो – ऐसा नहीं बन सकता, वहाँ राग का अवश्य सद्भाव है; परंतु उस भूमिका में जितनी वीतरागता हो चुकी है, उतनी तो हर समय टिकी ही रहती है। जैसे चतुर्थ गुणस्थान में परलक्ष्यी उपयोग के समय भी अनंतानुबंधी राग-द्वेष का तो अभाव ही है; उसीप्रकार छठे गुणस्थान के लक्ष्य के समय भी तीन कषायों का अभाव होने से तत्संबंधी राग-द्वेष भी नहीं है अर्थात् इतनी वीतरागता तो हर समय विद्यमान ही रहती है। केवली भगवान पर को भी जानते हैं, परंतु उन्हें अपना उपयोग पर में लगाना नहीं पड़ता। उनका उपयोग तो स्व में ही लीन है।

प्रश्न– ज्ञानी शुभराग को भला नहीं जानते तो अतिचार का प्रायश्चित क्यों लेते हैं ?

उत्तर– प्रतिक्रमण-प्रायश्चित आदि के शुभराग को भी विष-कुंभ कहा है। विषय-वासना का अशुभराग तो जहर है ही, पर शुभराग भी जहर है। भगवान आत्मा अमृतकुंभ है। राग उससे विरुद्धस्वभावी होने से जहर ही है। समयसार में प्रतिक्रमण आदि को भी जहर कहा है।

प्रश्न– सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना तो शुभभाव है न ?

उत्तर– सभी आत्माएँ सिद्ध समान हैं, किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं – ऐसा मैत्री भाव ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, शुभभाव नहीं।

प्रश्न– पुरुषार्थ करना हमारे हाथ में है या क्रमबद्ध में हो तब होता है ?

उत्तर– पुरुषार्थ करना अपने हाथ की बात है और क्रमबद्ध का निर्णय भी पुरुषार्थ के आधीन है। स्व-सम्मुख पुरुषार्थपूर्वक ही क्रमबद्ध का निर्णय होता है।

प्रश्न– चावल वर्षों तक रखा रहे पर पानी का निमित्त मिलेगा तभी पकेगा ?

उत्तर– चावल जब पकेगा, तब अपने से अपनी योग्यता से ही पकेगा और उस काल में पानी निमित्तरूप से सहज ही होगा, ऐसा वस्तुस्वभाव है।

प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में अपनी योग्यतानुसार ही होती है। उस काल में बाह्यवस्तु पर निमित्त का आरोप आता है। यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्य की पर्याय करे तो वह अन्य द्रव्य ही कहाँ रहे। अनंत द्रव्य अस्तिरूप हैं। उन सबको भिन्न-भिन्न अस्तिरूप मानने से ही श्रद्धा-ज्ञान सच्चे होंगे। ●

ज्ञान-भावना

सायंकालीन चर्चा के समय जब पूज्य स्वामीजी से पूछा गया कि प्रतिकूल समय में क्या करना चाहिये, तब स्वामीजी ने आत्मविभोर होते हुए कहा :-

संसार में जब हजारों प्रकार की प्रतिकूलता एक साथ आ पड़े, कहीं मार्ग न सूझे तब एक ही उपाय है - धैर्यपूर्वक ज्ञान-भावना।

ज्ञान-भावना क्षणमात्र में सब प्रकार की उदासी को नष्टकर हितमार्ग सुझाती है, शांति देती है, कोई अलौकिक धैर्य और अचिंत्य शक्ति देती है।

गृहस्थ श्रावक को भी 'ज्ञान-भावना' होती है। बड़े से बड़े संकट से उभरने का एकमात्र उपाय ज्ञान-भावना ही है।

वादविवाद करना ठीक नहीं

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवाद सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥

जगत में नाना प्रकार के जीव हैं। उनके नाना प्रकार के कर्म हैं, और नाना प्रकार की उनकी लब्धियाँ हैं। इसलिये स्वसमय और परसमय के साथ वचन-विवाद वर्जित है।

तात्पर्य यह है कि जगत् में अनेक प्रकार के व्यक्ति हैं। उनके कार्य, रुचि एवं योग्यताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। अत: चाहे वे अपने मत के हों, चाहे अन्य मत के; उनके साथ वाद-विवाद करना ठीक नहीं। **- नियमसार, गाथा १५६**

समाचार दर्शन

प्रांतिज (गुजरात) में अभूतपूर्व आयोजन

शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर का उद्घाटन

प्रांतिज : दिनांक १५-५-७७ को प्रातः आठ बजे श्री वीतराग-विज्ञान आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर (११वाँ) का उद्घाटन गुजरात राज्य के शिक्षा एवं गृहनिर्माण मंत्री माननीय श्री नवलभाई शाह के द्वारा संपन्न हुआ। ढाई घंटे चले इस समारोह में सर्वप्रथम पंडित बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता ने सभी अतिथियों का परिचय देते हुए स्वागत किया। श्री नेमीचंदजी पाटनी ने शिविरों की शृंखला एवं पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की गतिविधियों का परिचय दिया। डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल ने वीतराग-विज्ञान का महत्त्व बताते हुए इस शिक्षण शिविर की उपयोगिता पर प्रकाश डाला। तत्पश्चात् अपने उद्घाटन भाषण में माननीय शिक्षा मंत्रीजी ने आध्यात्मिक शिविर की सराहना करते हुए पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया। अंत में पंडित खीमचंद जेठालाल शेठ ने अपने अध्यक्षीय भाषण में शिविर-आयोजकों को और शिविरार्थियों को मंगल आशीर्वाद दिया।

शिविर में अभी तक २०० अध्यापक एवं २५०० से भी अधिक शिक्षार्थी आ चुके हैं। कार्यक्रम प्रातः ५.३० बजे से रात्रि के १०.०० बजे तक प्रतिदिन लगभग १० घंटे चलता है।

- हेमचंद्र जैन 'चेतन'

वेदी प्रतिष्ठा सानंद संपन्न

प्रांतिज : नवीन चैत्यालय एवं वेदी का निर्माण होकर उसकी वेदी प्रतिष्ठा होकर दिनांक १५-५-७७ को विशाल जुलूस के साथ जिनेन्द्र भगवान को वेदी में विराजमान किया गया। प्रतिष्ठा-कार्य पंडित धन्नालालजी ग्वालियर तथा इंदौर ब्रह्मचर्याश्रम के ब्रह्मचारी दीपचंदजी एवं ब्रह्मचारी सुखलालजी के द्वारा संपन्न हुआ। इस अवसर पर पंडित खीमचंदभाई सोनगढ़, पंडित बाबूभाई मेहता फतेपुर, डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल जयपुर, पंडित रतनचंदजी भारिल्ल विदिशा विशिष्ट अतिथियों के रूप में उपस्थित थे। **- हेमचंद्र जैन 'चेतन'**

दिगम्बर जैन महासमिति की गुजरात शाखा का गठन

प्रांतिज : यहाँ दिनांक २१-५-७७ को दिगम्बर जैन महासमिति की गुजरात शाखा का गठन सर्वसम्मति से हो गया।

संपूर्ण गुजरात के कोने-कोने से पधारे प्रतिनिधियों के सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास कर वर्तमान दिगंबर भगवान महावीर २५००वीं निर्वाण-महोत्सव समिति के समस्त सामान्य सदस्य, कार्यकारिणी सदस्य एवं पदाधिकारी उसी रूप में दिगम्बर जैन महासमिति के सदस्य और पदाधिकारी मनोनीत किये गये। यह समिति तब तक कार्य करेगी, जब तक कि नया विधान नहीं बन जाता और तदनुसार चुनाव होकर नयी समिति, कार्यकारिणी एवं पदाधिकारियों को नहीं चुन लिया जाता।

- अमृतलाल संघवी, महामंत्री

दिगम्बर भगवान महावीर २५००वीं निर्वाण-महोत्सव समिति की गुजरात शाखा का समापन समारोह सानंद संपन्न

प्रांतिज : दिनांक २२-५-१९७७ को प्रातःकाल आठ बजे साहू शांतिप्रसादजी जैन की अध्यक्षता में दिगम्बर भगवान महावीर के २५००वीं निर्वाण-महोत्सव समिति की गुजरात शाखा का समापन समारोह सानंद संपन्न हुआ। उक्त समारोह के मुख्य अतिथि माननीय श्री बाबूभाई जसभाई पटेल, मुख्यमंत्री, गुजरात सरकार तथा विशेष अतिथि माननीय श्री नवलभाई शाह, शिक्षा एवं गृहनिर्माण मंत्री गुजरात सरकार थे। इस अवसर पर बाहर से पधारी हुई लगभग पाँच हजार जनता उपस्थित थी।

सर्वप्रथम पंडित बाबूभाई मेहता ने अतिथियों का स्वागत करते हुए निर्वाण-महोत्सव वर्ष में हुए कार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया। तत्पश्चात् पंडित खीमचंदभाई जेठालाल सेठ, श्री नवलभाई शाह शिक्षामंत्री, श्री बाबूभाई जसभाई पटेल मुख्यमंत्री तथा डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल के व्याख्यान के पश्चात् आदरणीय साहू श्री शांतिप्रसादजी का भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने गुजरात समिति के कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए आदरणीय बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता के कर्मठ व्यक्तित्व की सराहना की।

दोपहर में पंडित खीमचंदभाई के प्रवचनोपरांत डॉ० भारिल्लजी द्वारा प्रशिक्षण कक्षा चली जिसे देखकर साहूजी बहुत प्रभावित हुए। तत्पश्चात् साहूजी का गुजरात समिति द्वारा हार्दिक अभिनंदन किया गया तथा केंद्रीय समिति की ओर से साहूजी ने गुजरात समिति के ११५ कार्यकर्ताओं को उनकी सेवाओं के लिये स्वर्ण-पदक प्रदान किये।

अभिनंदन के उत्तर में साहूजी ने पूज्य स्वामीजी को अत्यंत श्रद्धापूर्वक याद किया और गद्‌गद् होते हुए ज्ञान के यज्ञ - इन शिविरों की बहुत प्रशंसा की। अनोखी प्रशिक्षण शैली की चर्चा अपने भाषण में बार-बार की तथा इसके लिये पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के अधिकारियों - श्री

गोदीकाजी, श्री पाटनीजी एवं डॉ० भारिल्लजी को धन्यवाद ही नहीं दिया, अपितु ट्रस्ट को तन-मन-धन से पूरा-पूरा सहयोग देने के वचन को दुहराया। वे श्रीमती सरोज गाँधी एवं कुमारी शुद्धात्मप्रभा की अध्यापन शैली से बहुत प्रभावित हुए।

रात्रि में पंडित उत्तमचंदजी एवं डॉ० भारिल्लजी के प्रवचनों के बाद गुजरात के लगभग ५०० कार्यकर्ताओं को गुजरात समिति की ओर से साहूजी के हस्त से प्रशस्ति-पत्र प्रदान किये गये।

दोनों ही दिन तारीख २१ व २२ को घाटकोपर, बम्बई की संगीत-मंडली द्वारा बहुत ही रोचक नाटक प्रस्तुत किये गये।

इस अवसर पर आदरणीय श्री पन्नालालजी गंगवाल कलकत्ता, श्री रतनलालजी गंगवाल कलकत्ता, श्री सुकुमारचंदजी दिल्ली, श्री महेन्द्रकुमारजी सेठी जयपुर एवं श्री भगतरामजी दिल्ली आदि भी पधारे थे। साहूजी सहित इन सबने तारीख २३ के प्रातः पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का लाभ लेने के लिये सोनगढ़ के लिये प्रस्थान किया। **-हेमचंद्र जैन 'चेतन'**

श्रुतपंचमी समारोह

प्रांतिज : दिनांक २३-५-७७ को श्रुतपंचमी समारोह के उपलक्ष्य में प्रातः विशाल जुलूस निकाला गया। जिनवाणी पूजन, प्रवचन वगैरह के विशेष कार्यक्रम हुए। इस अवसर पर उल्लेखनीय बात यह हुई कि एक सद्गृहस्थ की ओर से धार्मिक साहित्य की कीमत आधी कर दी गयी और लगभग आठ हजार रुपयों का साहित्य बिका। सर्वश्री पन्नालालजी रतनलालजी गंगवाल के सद्प्रयत्नों से जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) के एक हजार ग्राहक बने। आत्मधर्म के भी सैकड़ों ग्राहक बने। **-हेमचंद्र जैन 'चेतन'**

बम्बई में आध्यात्मिक शिक्षण शिविर

ज्ञातव्य रहे कि डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल, संपादक, आत्मधर्म (हिन्दी) एवं पंडित रतनचंदजी शास्त्री, संपादक, जैनपथ प्रदर्शक; की प्रांतिज की शिविर से लौटते समय एक सप्ताह के लिये बम्बई पधारने की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है। अतः उनके प्रवचनों और शिक्षण का लाभ लेने के लिये एक शिविर का आयोजन किया गया है। कार्यक्रम व स्थान की विस्तृत जानकारी श्री सीमंधर जिनालय जैन मंदिर, १७३-१७५, मुम्बादेवी रोड, बम्बई से ज्ञात हो सकेगी। **-बसंतभाई दोशी, बम्बई**

विदिशा : स्थानीय वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मंदिर का पंचम श्रुतसप्ताह-समारोह दिनांक १७ मई से २३ मई, १९७७ तक भव्य आयोजनों के साथ संपन्न हुआ। इस अवसर पर पंडित

कपूरचंदजी करेली, पंडित राजमलजी भोपाल, पंडित बाबूलालजी अशोकनगर के पधारने से अभूतपूर्व धर्मप्रभावना हुई। **–ज्ञानचंद जैन, विदिशा**

राजकोट : विगत दिनों पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के पधारने से समाज में उल्लास का वातावरण छाया रहा। आप यहाँ १८ दिन तक रहे। प्रतिदिन समयसार पर प्रवचन चलते थे। लगभग दो हजार भाई–बहिन प्रतिदिन प्रवचनों में भाग लेते थे। इस अवसर पर लगभग आठ हजार रुपये का साहित्य बिका तथा आत्मधर्म के ४० आजीवन और अनेक वार्षिक ग्राहक बनाये गये।– **रमेशकुमार जैन**

छिंदवाड़ा : स्थानीय मुमुक्षु मंडल द्वारा १ मई सन् १९७७ से १५ मई १९७७ तक जैनधर्म शिक्षण–शिविर का आयोजन किया गया। प्रतिदिन तीनों समय कक्षाएँ चलती थीं। श्री कैलाशचंदजी बुलंदशहरवालों के मार्गदर्शन में संपन्न इस शिविर में लगभग चार–पाँच सौ की उपस्थिति रहती थी। आपके पधारने से महती धर्म प्रभावना हुई। **–शांतिकुमार पाटनी, छिंदवाड़ा**

बरायठा : ६ अप्रेल से ११ अप्रेल १९७७ तक श्री पंडित कैलाशचंदजी बुलंदशहरवालों के पधारने से महती धर्मप्रभावना हुई। आपके प्रातः, दोपहर तथा रात्रि को तीनों समय कार्यक्रम चलते थे, जिनमें समाज के शताधिक लोग आकर धर्मलाभ लेते थे। इसके पश्चात् आप १२ से १७ अप्रेल तक शाहगढ़, १८ से २३ अप्रेल तक बण्डा, तथा २४ से २९ अप्रेल तक सागर रहे। ३० अप्रेल को आपने छिंदवाड़ा के लिये प्रस्थान किया। सभी स्थानों पर आपके कार्यक्रम सानंद संपन्न हुए।

–विजयकुमार, बरायठा

नवीन वीतराग–विज्ञान पाठशाला

जगत (राज०) : श्री पंडित गोविंदप्रसादजी के पधारने से समाज को अच्छा धर्मलाभ मिला। आपकी प्रेरणा से यहाँ नवीन वीतराग–विज्ञान पाठशाला प्रारंभ की गयी। पाठशाला की स्थापना से समाज में हर्ष की लहर छा गयी।

आत्मार्थी छात्र ध्यान दें

आत्मधर्म (मई, १९७७) में प्रकाशित 'आत्मार्थी छात्रों को अपूर्व अवसर' नाम विज्ञप्ति के अनुसार टोडरमल स्मारक भवन में अध्ययनार्थ प्रवेश हेतु सैकड़ों छात्रों के प्रार्थना–पत्र प्राप्त हुए हैं। किंतु स्थान सीमित होने से सभी को प्रवेश नहीं दिया जा सकता है। जिन्हें प्रवेश दिया गया है, उन्हें सूचना दे दी गयी है। जिन्हें प्रवेश नहीं दिया गया है, उन्हें भी सूचना भेजी गयी है, फिर भी यदि किसी कारणवश उन्हें सूचना न मिल सकी हो तो वे छात्र अपना प्रार्थना–पत्र निरस्त समझें और समय रहते अपनी अन्यत्र व्यवस्था कर लें। **–नेमीचंद पाटनी**

प्रबंध संपादक की कलम से

कृपया निम्नलिखित सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें :-

(१) वर्ष ७७-७८ के लिये आप अपनी सदस्यता शुल्क शीघ्र भेजें। स्मरण रहे कि जुलाई में उन्हीं सदस्यों को आत्मधर्म भेजा जायेगा जिनकी सदस्यता शुल्क हमें जून माह के अंत में प्राप्त हो जावेगी।

(२) बैंक ड्राफ्ट बनवाते समय केवल ATAMDHARMA के नाम से ही ड्राफ्ट बनवायें। उसकी साथ और कुछ (संपादक आदि) न लिखायें।

(३) मनिआर्डर भेजते समय नीचेवाली स्लिप पर अपना नाम, पता तथा ग्राहक नंबर स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

(४) आप स्थानीय मुमुक्षु-मंडलों के माध्यम से भी आत्मधर्म की सदस्यता शुल्क भेज सकते हैं।

(५) नये वर्ष का चंदा भेजते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखा दें। अन्यथा आपके पास पुराने ग्राहक नंबर के चंदे का तगादा पहुँच सकता है।

(६) पिछले वर्ष जिन ग्राहकों ने जिस नाम से चंदा जमा कराया था, वे कृपया इस वर्ष भी उसी नाम से चंदा जमा करायें। चूँकि हमारे पास सभी के पते छप चुके हैं, अत: नाम बदलने से हमें अत्यधिक परेशानी होती है।

(७) जिन कार्यकर्ताओं को आत्मधर्म के ग्राहकों की लिस्टें प्राप्त हो गयी हों, वे यथाशीघ्र उनसे शुल्क एकत्रित कर आत्मधर्म कार्यालय को भेजने की कृपा करें।

पाठकों के पत्र

बलहना (उ०प्र०) से श्री पंडित लक्ष्मीचंदजी शास्त्री लिखते हैं -

आत्मधर्म पत्रिका में पूज्य गुरुदेव के प्रवचन बहुत ही सरल एवं सरस भाषा में छपते हैं, जिन्हें पढ़कर जनमानस का कल्याण हो सकता है। वास्तव में आज के युग में पूज्य कानजीस्वामी धर्मतीर्थ के युग-प्रवर्तक हैं।

अशोकनगर (म०प्र०) से श्री कैलाशचंदजी जैन लिखते हैं –

जब से आपके संपादकत्व में आत्मधर्म प्रकाशित हुआ है, तब से आत्मधर्म में चार चाँद लग गये हैं। संपादकीय लेख तो मुझे बहुत ही रुचिकर लगते हैं। 'भगवान महावीर और उनके अनुयायी युगपुरुष कानजीस्वामी' नामक लेख पढ़ा तो हृदय प्रफुल्लित हो गया। अब आत्मधर्म का एक भी शब्द नहीं छोड़ा जाता। आशा है आप इसीप्रकार के संपादकीय लेख आगे भी देते रहेंगे।

जबलपुर (म०प्र०) से श्री अभयकुमारजी जैन लिखते हैं –

आत्मधर्म का मार्च का अंक प्राप्त हुआ तो हृदय गद्‌गद् हो गया। दशधर्मों की लेखमाला विशेष आकर्षक है। दशधर्मों पर भी इतना युक्तिपूर्ण, आगमसम्मत, स्वानुभवप्रेरक, सुंदर विवेचन हो सकता है – यह सोचा भी न था। नियमसार के प्रवचन भी विशेष अनुभव–रस की मस्ती से भरपूर लगे। पढ़ने पर ऐसा लगा मानो साक्षात् मुनिराज के समीप बैठकर उनकी अनुभव–रस भरी वाणी सुन रहे हों।

झाँसी (उ०प्र०) से श्री महावीरप्रसादजी जैन लिखते हैं –

मैंने आत्मधर्म के सभी अंक पढ़े। पढ़कर बहुत प्रसन्नता का अनुभव हुआ। आप जैसे सुयोग्य संपादक होने से सभी सामग्री श्रेष्ठ है।

गौहाटी (आसाम) से श्री जवरीमलजी छाबड़ा लिखते हैं –

आत्मधर्म टाइम से आता है। आपका लेख तो बार–बार पढ़ने से भी इच्छा पूरी नहीं होती। आपको जितना धन्यवाद दिया जाये थोड़ा है।

सिवनी (म०प्र०) से श्री दशरथलालजी जैन लिखते हैं –

गत एक वर्ष की समयावधि में हिन्दी आत्मधर्म का नयनाभिराम मुखपृष्ठ के साथ, सुसंस्कृत साहित्यिक स्तर पर, स्वामीजी के आध्यात्मिक उद्‌बोधनों के साथ, सरल और सुरुचिपूर्ण शैली में आपके कुशल संपादन में प्रकाशन शुरु हुआ है, वह अत्यंत प्रशंसनीय है।

घणी कहबा करि कहा

महापंडित टोडरमलजी के सान्निध्य में वि०सं० १८२१ में जयपुर में 'इंद्रध्वज विधान महोत्सव' नामक विशाल उत्सव हुआ था। इसकी आमंत्रण पत्रिका१ साधर्मी भाई ब्रह्मचारी रायमलजी ने लिखकर समस्त भारतवर्ष में भेजी थी। साधर्मी भाइयों को प्रेरणा देते हुए वे उसमें लिखते हैं –

''अनंतानंत सागर पर्यंत काल एकेन्द्री विषै वितीत करै है, तब एक पर्याय त्रस का पावै है। अैसा त्रस पर्याय का पायबा दुर्लभ है तो मनुक्ष पर्याय पायबा की कहा बात।

ता विषै भी उच्च कुल, पूरी आयु, इन्द्री प्रबल, निरोग शरीर, आजीवका की थिरता, सुभ क्षेत्र, सुभ काल, जिन धर्म का अनुराग, ज्ञान का विशेष क्षयोपशम, परणांमां की विशुद्धता, ए अनुक्रम करि दुर्लभ सूं दुर्लभ ए जीव पावै है।

कैसे दुर्लभ पावै है ? अबार अैसा संयोग मिल्या है सो पूर्वै अनादि काल का नहीं मिल्या होगा। जै अैसा संजोग मिल्या होय तो फेरि विषै क्यां नैं रहै ? जिनधर्म का प्रताप ऐसा नांहीं क सांची प्रतीति आयां फेरि संसार के दुख कूं पावै।

तातैं थे बुद्धिमान हो। जामैं अपनां हित सधै सो करनां। धर्म के अर्थी पुरुष नैं तौ थोड़ा सा ही उपदेश घणां होइ परणमै है।

घणी कहबा करि कहा।''

---

१. उक्त पठनीय पत्रिका अविकलरूप से 'पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' में छप भी चुकी है।

Reg. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन*

	रु० पैसे		रु० पैसे
समयसार	१२-००	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१०-००
प्रवचनसार	१२-००	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	५-००
पंचास्तिकाय	७-५०	" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)	२-००
नियमसार	५-५०	मैं कौन हूँ?	१-००
अष्टपाहुड़	१०-००	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य	०-६५
समयसार नाटक	७-५०	कविवर बनारसीदास : जीवन और साहित्य	०-३०
समयसार प्रवचन भाग १	४-५०	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३-००
समयसार प्रवचन भाग २	४-५०	अनेकांत और स्याद्वाद	०-३५
समयसार प्रवचन भाग ३	५-००	तीर्थंकर भगवान महावीर	०-४०
समयसार प्रवचन भाग ४	७-००	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	०-२५
आत्मावलोकन	३-००	सत्य की खोज (कथानक)	प्रेस में
श्रावकधर्म प्रकाश	३-००	अपने को पहचानिए	०-५०
छहढाला (सचित्र)	१-५०	पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और उसकी ग्यारह प्रतिमाएँ	०-३५
द्रव्यसंग्रह	१-२०	अर्चना (पूजा संग्रह)	०-४०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-४०	मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)	०-५०
प्रवचन परमागम	२-५०	बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
धर्म की क्रिया	२-००	बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०	बालबोध पाठमाला भाग ३	०-७०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०	वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०	वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
तत्त्वज्ञान तरंगिणी	५-००	वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
अलिंग-ग्रहण प्रवचन	१-६०	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
बालपोथी भाग १	०-२५	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-२५
बालपोथी भाग २	०-४०	सुंदर लेख बालबोध पाठमाला भाग १	०-२५
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	३-००	आगम पथ : कानजीस्वामी विशेषांक	३-००
जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३०-००	परमात्म पूजा संग्रह	२-००
परमात्म पूजा संग्रह	२-००		
मोक्षमार्गप्रकाशक	५-००		

*** श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)**

*** पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४**